संयुक्तप्रान्त के शिक्षा-विभाग-द्वारा 'कोविद'-परीक्षा भाग १ के लिए स्वीकृत।

भारतीय कहानियाँ

श्रीनारायण चतुर्वेदी

भारतीय कहानियाँ

सम्पादक

श्रीनारायण चतुर्वेदी

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, इलाहाबाद

१९४४

मूल्य २।=)

Printed and published by K. Mittra, at The Indian Press, Ltd.,
Allahabad.

भूमिका

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह अपने समाज अर्थात् समाज के लोगों के संबंध में सदैव कुतूहलशील रहता है। यह कुतूहल उसकी जन्मजात प्रवृत्ति है। जो मनुष्य जितना ही अधिक सामाजिक अर्थात् समाज-प्रिय (Social) होता है वह उतना ही अधिक अपने पड़ोस के लोगों से मिलता-जुलता है। उतना ही अधिक वह उनके सुख-दुःख में भाग लेता है और अपनी सामाजिकता के अनुपात में वह न्यूनाधिक उनके जीवन के विषय में कुतूहलशील रहता है। इसके विपरीत वे लोग जो भीड़-भाड़ से दूर रहते हैं, जिन्हें लोगों का संसर्ग अधिक पसन्द नहीं है वे अपने अधिकांश पड़ोसियों के संबंध में जानकारी रखना अनावश्यक समझते हैं। वास्तव में उनमें अपने पड़ोसियों के संबंध में बातें जानने का कुतूहल बहुत कम रहता है। किंतु वे भी सामाजिक प्राणी हैं। उनके मित्र कम होते हैं। फिर भी होते हैं अवश्य, और उनकी उन्नति-अवनति, सुख-दुःख, हर्ष-विषाद के विषय में वे भी उत्सुक रहते हैं।

अपने पड़ोसी के संबंध में यह कुतूहल ही 'कहानी' की सर्वप्रियता का नैसर्गिक कारण है। पनघट पर एकत्रित स्त्रियाँ, या चौपाल अथवा अथाई में बैठे हुए गाँव के मनुष्य अपने गाँव के स्त्री-पुरुषों के संबंध में सदैव चर्चा किया करते हैं। अमुक का विवाह है, बह विवाह कैसे तय हुआ, नाई ने किस प्रकार कन्यापक्ष को तैयार किया, कितना देन-दायजा तय हुआ, भावी वधू की क्या अवस्था है, उसका रूप कैसा है, उसके पिता के पास कितना धन है इत्यादि-इत्यादि बातों की, जिनसे उनका व्यक्तिगत संबंध कुछ भी नहीं है, वे नित्य चर्चा किया करते हैं। उनमें जो ईर्ष्यालु या पर-छिद्रान्वेषी हुए, वे अपने पड़ोसियों के ऐबों के विषय में चर्चा छेड़ देते हैं और 'चबाव' आरंभ हो जाता है। जो सहानुभूतिशील हैं वे किसी परिचित की विपत्ति का वर्णन करके श्रोताओं की सहानुभूति को उत्तेजित करते हैं। यह 'कहानी' का सनातन और प्रकृत रूप है क्योंकि यह सामाजिक-प्राणी, मनुष्य, अपने पड़ोसियों में इतनी दिलचस्पी रखता है कि बिना उनकी चर्चा किये वह रह नहीं सकता। और गाँवों के ये वाचालू, चबाई या सहानुभूतिपूर्ण व्यक्ति 'कहानी' लेखकों के बास्तविक पूर्वपुरुष हैं।

अतएव 'कहानी' सुनने और 'कहानी' कहने की प्रवृत्तियाँ मनुष्य में जन्मजात और नैसर्गिक हैं। किंतु मनुष्य केवल अपने निकट के पड़ोसी ही में रुचिशील नहीं है। वास्तव में वह मानव जाति में और उसके साधारण से साधारण और बड़े से बड़े कामों में दिलचस्पी लेता है। उसके कुतूहल का अंत नहीं। किंतु कुतूहल के साथ ही उसमें अन्य प्रवृत्तियाँ भी हैं। उसके पूर्वज सहस्रों वर्ष अपने पशुओं को चराते हुए जंगलों, मैदानों, पहाड़ों में दुर्गम नदियों, नालों और घाटियों को पार करके घूमते रहे हैं। अतएव उसके रक्त में 'भ्रमणशीलता' बिंधी हुई है—चाहे वह स्वयं अपने गाँव के बाहर भी कभी न गया हो। इसी प्रकार उसके पूर्वजों ने युगों तक अपने विरोधियों से युद्ध किया है। चाहे जीवन-रक्षा के लिए, चाहे हिंसक पशुओं से बचने के लिए और चाहे शत्रुओं के आक्रमण को विफल करने के लिए उसकी सैकड़ों पीढ़ियों को योद्धा का जीवन व्यतीत करना पड़ा है। अतएव संघर्ष या युद्ध के विषय में भी उसका कुतूहल उसे अपने रक्त में मिला है। इसी प्रकार मनुष्य के जीवन से संबंध रखनेवाले न मालूम कितने काम हैं जिनसे उसे स्वाभाविक रुचि है। मनुष्य के उन सब पराक्रमों और कामों में इसलिए उसमें जन्मजात कुतूहल रहता है।

इतना ही नहीं। हमारा जीवन एक तो वह है जो हम चेतन अवस्था में बिताते हैं। हमारा नित्य का काम—भोजन, शयन, कृषि या रोज़गार, गृहस्थी या व्यवसाय के झंझट—हमारे स्थूल जीवन के अंग हैं। किंतु हम में से बहुत कम ऐसे हैं जो अपने यथार्थ जीवन से संतुष्ट रहते हैं। हम अपने हृदय में उस जीवन की एक धुँधली रूप-रेखा छिपाये रहते हैं जिसे हम वास्तव में पसंद करते हैं। हम किसी कल्पनातीत सुंदरी से प्रेम करना चाहते हैं, कोई महत्त्वपूर्ण या वीरता का काम करना चाहते हैं, वैभव चाहते हैं अथवा देश, समाज या मानव-जाति की सेवा करना चाहते हैं। किन्तु ये आकांक्षाएँ हमारे लिए आकाश-कुसुम हैं। हम इन्हें अपने मस्तिष्क के भीतर, कितने ही आवरणों से आवेष्टित कर, छिपाये रहते हैं। उनके विषय में दिवा-स्वप्न देखा करते हैं। किंतु जब हम किसी व्यक्ति की कहानी सुनते हैं जिसने किसी कल्पनातीत सुंदरी से प्रेम किया है तो वास्तव में हम उस कथा-नायक के रूप में स्वयं उस प्रेम का अनुभव करने लगते हैं अथवा वीरता दिखलानेवाले व्यक्ति के मिस अपनी अतृप्त आकांक्षाओं का मांगलीकरण करते हैं। अतएव मनुष्य को कहानियाँ इसलिए भी प्रिय और रुचिकर हैं कि उनमें वह अपनी अतृप्त आकांक्षाओं की मानसिक पूर्त्ति कर सकता है।

मानव स्वभाव की इन गहरी प्रवृत्तियों पर आधारित होने के कारण ही कहानी का जन्म उतना ही प्राचीन है जितना मनुष्य का। प्रत्येक देश और प्रत्येक जाति में किसी न किसी रूप में कहानियाँ अनन्त काल से प्रचलित हैं, और जब तक मनुष्य का स्वभाव बिलकुल ही बदल नहीं जाता तब तक वे प्रचलित भी रहेंगी। यह दूसरी बात है कि सामाजिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक विकास के कारण उनका रूप बदलता जाय। किंतु उनमें कोई मौलिक परिवर्तन नहीं होने का।

और इस विश्लेषण के बाद कहानी का मुख्य उद्देश्य भी स्पष्ट हो जाता है। वह है—मनुष्य के स्वाभाविक या प्रकृतिजन्य सामाजिक कुतूहल की तृप्ति। दूसरे शब्दों में उसे मनोरंजन भी कह सकते हैं। यदि इस उद्देश्य को मान लिया जाय तो अच्छी कहानी का मापदण्ड उसकी रोचकता है। जो जितनी अधिक रोचक होगी वह उतना ही अधिक मनोरंजन करेगी। कहानी में और कुछ हो या न हो, किंतु यदि उसमें रोचकता नहीं, यदि उससे मनोरंजन नहीं होता तो वह कहानी 'अच्छी' कहानी नहीं कही जा सकती।

अब प्रश्न यह है कि 'मनोरंजन' किस प्रकार की कहानी से हो सकता है? हम सबने उस राजा की कथा सुनी है जिसे कहानी सुनने की अतृप्त इच्छा थी और जो 'कभी न समाप्त होनेवाली' कहानी सुनना चाहता था। किंतु अफसोस! अच्छी से अच्छी और लंबी से लंबी कथा का भी—चाहे वह महाभारत ही क्यों न हो—अंत में अंत हो ही जाता है। उस राजा की 'अनन्त' कथा की माँग को पूरा करने का मौलिक उपाय एक चतुर कहानी कहनेवाले ने एक मौलिक कहानी बनाकर खोज निकाला। राजा के सामने उपस्थित होकर और अपनी कथा की 'अनन्तता' का बखान करके उसने राजा में उत्सुकता उत्पन्न कर दी। राजा गाव-तकिया लगाकर मसनद पर आराम करने लगा। उसने मुँह में शायद बहुमूल्य पेचवान की नली दबा ली। पीछे तांबूलवाहिनी सैकड़ों बीड़ों से भरे पानदान को लिये तैयार खड़ी थी। मोरछलवाली अपने सुगठित बाहुओं से बदतमीज़ मक्खियों को अदब सिखला रही थी। पंखेवाली हौले-हौले खस में सुवासित विजन डुला रही थी। एक परिकर पीकदान लिये तैयार खड़ा था। दो किशोर अवस्था के चाकर राजा के तलवे सुहला रहे थे। अंतरंग सभा में बैठनेवाले मुसाहिब अपना कुतूहल छलछलाते हुए यथास्थान बैठे थे। कलावंत कहानीकार ने कहानी आरंभ की—"महाराज! यह अनन्त कथा मैंने बड़े परिश्रम से तैयार की है। अनन्त करने के लिए मैंने इसमें कोई बात छोड़ी नहीं। हर एक घटना का विस्तृत और सच्चा

वर्णन किया है।" महाराज ने अधीर होकर कहा—"आप अपनी कहानी तो आरंभ कीजिए।" कलावंत ने कहा—"महाराज एक बार मध्यदेश पर पश्चिम से टीड़ियों के एक बड़े विशाल दल ने आक्रमण किया। टीड़ियों के कारण ऐसा मालूम पड़ने लगा कि आकाश में घनघोर घटा छा गई है। सूर्य भगवान् दिन दोपहर में अदृश्य हो गए। असमय अँधेरा छा गया। पक्षीगण संध्या का आगमन समझ अपने अपने घोंसलों को लौटने लगे। ग्वाले अपनी गउओं को घेरकर घर को चल पड़े। पाठशालाओं के लड़के पंडितों से छुट्टी लेकर चल दिये। नगर के बाहर किसी प्राचीन समय का एक बगीचा था। उसमें पीपल, आम, शीशम, जामुन आदि के सैकड़ों वृक्ष थे। न मालूम उन उत्पाती टीड़ियों को क्या सूझा, शायद उड़ते-उड़ते वे थक गई थीं, वे विश्राम करने के लिए उसी बाग़ में ठहर गईं। उन सहस्रों पेड़ों के एक एक पत्ते पर एक एक टीड़ी ने बसेरा लिया। पेड़ों के पत्ते छिप गये। ऐसा मालूम पड़ने लगा कि पेड़ों में पत्ते नहीं टीड़ियाँ हिल रही हैं। उनके आकाश से उतर आने से सूर्य भगवान् ने फिर दर्शन दिये। लोगों के जी में जी आया। किंतु उन चंचल और गतिशीला टीड़ियों को चैन कहाँ। एक टीड़ी उड़ी–फुर्र। फिर एक टीड़ी उड़ी—फुर्र। फिर एक टीड़ी उड़ी—फुर्र। फिर एक टीड़ी उड़ी—फुर्र। फिर एक टीड़ी उड़ी—फुर्र। फिर एक टीड़ी उड़ी—फुर्र।" राजा ने पेचकश की निगाली मुँह से निकालकर पूछा—'फिर क्या हुआ?' कलावंत ने उसी मुद्रा से कहा—"फिर एक टीड़ी उड़ी—फुर्र।" "हाँ, हाँ, टीड़ियाँ उड़ गईं। फिर क्या हुआ?" राजा ने अधीर होकर पूछा। कलावंत ने अदब से सिर झुकाकर और हाथ जोड़कर निवेदन किया—"महाराज! अभी तो केवल सात टीड़ियाँ उड़ी हैं। मैं पहले सब टीड़ियों को उड़ा दूँ। तब तो आगे बढ़ूँ। हाँ, फिर एक टीड़ी उड़ी—फुर्र।" राजा की कहानी सुनने की सब उत्सुकता दूर हो गई। उसका कुतूहल हवा हो गया। उसने कलावंत को कुछ पारिश्रमिक दे बिदा कर दिया और अन्यमनस्क हो, आँख बंद करके गाव-तकिए के सहारे पेचकश की निगाली से धुआँ खींचकर अपने उत्तेजित मस्तिष्क को शांत करने लगा। मोरछलवालियों का मोरछल उसी गति से चल रहा था। सुवासित विजन भी वायु को सुगंधित करता हुआ डोल रहा था। किशोर चाकर तलवे भी उसी प्रकार सहला रहे थे। मुसाहिबों के अदब-कायदे में भी कोई कमी न थी। हाँ, उनकी उत्सुकता काफूर हो गई थी।

आपने देखा? उस कलावंत की कहानी में राजा को 'रस' नहीं आया। वह उसे मनोरंजक नहीं मालूम हुई। क्यों? वास्तव में उसमें

'कहानी' न थी। और यदि उसे कहानी मान भी लिया जाय तो उसमें उत्सुकता उत्पन्न करनेवाली कोई बात न थी। उसमें ऐसा कुछ न था जिसको सुनकर यह जानने की इच्छा हो कि आगे क्या हुआ। घटनाओं में बहुरूपता न थी जिससे नवीन प्रकार की घटना से 'रोचकता' बनी रहे। उसमें राजा के मनोभावों—प्रेम, घृणा, द्वेष, दया, उदारता, वीरता—को उत्तेजित करने की शक्ति न थी। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'मनोरंजक' होने के लिए कहानी का 'कहानी' होना आवश्यक है—अर्थात् उसमें घटनाएँ होती रहें। उसमें गति होना आवश्यक है—अर्थात् घटनाचक्र शीघ्रता से घूमता रहे। यह न हो कि एक स्टेशन पर कहानी की गाड़ी घंटों खड़ी रहे या रास्ते में ही उसका एंजिन 'फेल' हो जाय। उसे उत्सुकतावर्द्धक होना भी जरूरी है। ऐसी घटनाएँ हों जिनकी पाठक को एकाएक कल्पना भी न हो। और जो कुछ भी हो वह 'स्वाभाविक' मालूम पड़े—अर्थात् तिलिस्म, मंत्र-जंत्र या भूत-प्रेत का सहारा लेकर नायक या नायिका का उद्धार न किया जाय। (यद्यपि यह सत्य है कि तिलिस्म और भूत-प्रेत की भी कुछ कहानियाँ बड़ी मनोरंजक होती हैं।) कहानी में कोई व्यर्थ की बात न हो—अर्थात् ऐसी घटना बीच में न आ जाय जिसका कहानी के पूर्वापर से कोई संबंध न हो। और जो घटनाएँ हुई हैं, अंत में, उनका बुद्धिसंगत और युक्तियुक्त 'हल' या 'कारण' भी कहानी में मिल जाय, अथवा पाठक को ऐसे स्थल में छोड़ दे जहाँ से वह उस 'कारण' को स्वयं सोचकर निकाल सके। और यह सब इस प्रकार लिखा जाय कि एक तो वह भाषा या शैली की दुरूहता के कारण पाठक की बुद्धि के परे न हो और दूसरे वह उसे 'सत्य' या 'सत्यवत्' मालूम पड़े।

मनोरंजक होने के लिए कहानी में जो तत्त्व होने चाहिए उनका संक्षिप्त विवरण ऊपर दे दिया गया है। अब कहानी-कला की दृष्टि से भी कहानी का चलताऊ विश्लेषण कर लेना आवश्यक है। कहानी वास्तव में वह 'कथा' है जो रोचक ढंग से कही गई हो। यह परिभाषा उपन्यास और कहानी दोनों पर ही लागू हो सकती है। किंतु दोनों में कुछ महत्त्वपूर्ण अंतर है। एक तो अंतर है आकार का। एक प्रसिद्ध अँगरेज़ विद्वान् (ई० एम० फार्स्टर) और एक फ्रांसीसी पंडित (मुशिए एबल शिवाली) ने उस कथानक को उपन्यास माना है जिसमें कम से कम ५०,००० शब्द हों। इसके यह अर्थ हुए कि दो सौ पृष्ठ से कम की कोई पुस्तक उपन्यास नहीं कहला सकती। किंतु यह परिभाषा स्थूल है। उपन्यास विस्तृत चरित्र-चित्रण करता है, कहानी की परिधि संकुचित होती है। वह किसी चरित्र

की किसी विशेष दशा का और केवल आंशिक चित्र खींचता है या किसी एकाकी घटना पर सीमित होती है। उपन्यास में घटनाओं की शृंखला होती है। उपन्यास किसी चरित्ररूपी नदी की विस्तृत कहानी है। 'कहानी' उसके किसी दृश्य-विशेष या घाट का चित्रण है। वह किसी पात्र का जीवन-चरित्र नहीं देती, प्रत्युत उसके जीवन की किसी विशेष महत्त्वपूर्ण अवस्था की झलक दिखलाती है। किंतु वह 'झलक' इतने महत्त्व की है कि उसके देखने से उस व्यक्ति का चरित्र स्पष्ट हो जाता है या उससे उसके किसी 'मानवी' गुण का स्पष्टीकरण होता है या किसी घटना की व्याख्या होती है। किंतु 'झलक' शब्द के यहाँ यह अर्थ नहीं हैं कि कहानी में 'कहानीपन' नहीं होता। वह तो अत्यावश्यक है। बिना उसके चरित्रनायक के चरित्र की 'झलक' दिखलाने का मसाला ही न रह जायगा। और कहानी में जहाँ लेखक को जगह की कमी होती है और जहाँ उसे सब बात संक्षेप में ही कहनी पड़ती है, यह 'कहानीपन' लाना लेखक का सबसे कठिन काम है। इस 'कहानीपन' को 'कथानक' (अँगरेज़ी में प्लाट) कहते हैं। वह संक्षिप्त भी हो और रोचक भी। उसमें घटनाचक्र यथाक्रम आता जाय और पाठक की उत्सुकता बनी रहे तथा उसका कुतूहल भी कम न हो। जो घटनाएँ हों वे एक के बाद दूसरी इस प्रकार घटें कि वे स्वाभाविक मालूम पड़ें। पाठक को शशपंज और विचार में डालने के बाद कहानी में 'चरमता' (Climax) आ जाय जो पिछली घटनाओं को सार्थक कर दे और कहानी के उद्देश्य पर पाठक के ध्यान को केंद्रित कर दे। उसमें अप्रासंगिक बातें—जिनसे कहानी का संबंध न हो—न हों। उसमें ऐसी अंतर्कथाएँ न हों जिनसे पाठकों का ध्यान कहानी के मुख्य सूत्र से हट जाय। उसमें गति हो। इसका आशय दुहरा है—एक तो यह कि कहानी में घटनाओं पर जोर रहे—लंबे वार्तालाप न हों जिससे घटनाओं की गति में रुकावट पड़े, दूसरे उसमें लेखक की व्याख्याएँ, व्याख्यान ओर "लाउडथिंकिङ" न हो जो कहानी की धार को अपने बाँधरूपी रोड़े से अटका रखे। उसमें स्वाभाविकता हो। पाठक को चरित्र या घटनाएँ अप्राकृतिक या अनहोनी न मालूम पड़ें। उसमें ऐतिहासिक संबद्धता हो अर्थात् क्लाइव के समय में धनुषबाण की लड़ाई न दिखलाई जाय। ऐतिहासिक असंबद्धता (Anachronism) कहानी के महत्त्व को प्राय: नष्ट कर देती है, यद्यपि ऐसी कहानियों के उदाहरण मौजूद हैं जिनमें ऐतिहासिक असंबद्धता होते हुए भी उनका महत्त्व कम नहीं हुआ। किंतु वे अपवाद हैं।

संक्षेप में अच्छी कहानी में इतनी बातें आवश्यक हैं—(१) सीधे ढंग

से कही हुई कथा, (२) कथा के गठन में कुशलता, (३) यथार्थता और रोमांस का आनुपातिक मिश्रण, (४) स्पष्ट और सुंदर चरित्र-चित्रण, (५) उपयुक्त वातावरण में कहानी का प्रवेश, (६) कहानी कहने की सुबोध और रोचक शैली, (७) छोटे किन्तु सारगर्भित और मनोरंजक वार्तालाप, (८) सुन्दर, सरल और उपयुक्त भाषा, (९) विचारों की गम्भीरता और तीव्रता, (१०) घटनाओं की विविधिता, (११) गति, (१२) उत्सुकता, (१३) विशुद्ध हास्य, विनोद या व्यंग का पुट, (१४) अनोखी किन्तु संभाव्य स्थितियाँ तथा (१५) उद्देश्य की स्पष्टता।

किन्तु इतनी बातें होने पर भी यह आवश्यक नहीं है कि कोई कहानी महान् या कला की दृष्टि से सुन्दर हो। इसका कारण स्पष्ट है। उपन्यास के सम्बन्ध में लिखते हुए एक विद्वान् (मिस्टर फार्स्टर) ने कहा है:- "उपन्यास दो बातों पर आधारित हैं—कथानक (जीवन या जीवन की घटनायें) + क्ष। क्ष से तात्पर्य है लेखक की प्रकृति और दृष्टिकोण का। लेखक की प्रकृति कथानक के प्रभाव को बदल देती है और कभी कभी तो उसमें आमूल परिवर्तन कर देती है।" सभी बड़े बड़े उपन्यासकार और कहानी-लेखक अपने उपन्यासों और कहानियों का कथानक प्राप्त करने के लिए जीवन का निरीक्षण करते हैं। किन्तु वे अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार निरीक्षित जीवन का विश्लेषण और उसकी व्याख्या करते हैं। अपनी प्रकृति के अनुसार वे एक ही कथानक को चुनते हैं किंतु एक कलाकार उसके बाह्य या स्थूल अंगों पर जोर देता है तो दूसरा स्थूल को बिलकुल छोड़ देता है। वह दूसरा उसके सूक्ष्म या आन्तरिक अंगों पर प्रकाश डालता और उसे महत्त्व देता है। दोनों ही आवश्यक हैं। दोनों ही सत्य हैं और उनसे जो दो भिन्न प्रकृति के कलाकार जो भिन्न भिन्न निष्कर्ष निकालते हैं वे भी—कम से कम आंशिक रूप में—अवश्य सत्य हैं। और कलाकार की दृष्टि की तीव्र तथा अंतर्भेदिनी दृष्टि की जितनी गहरी और सच्ची पैठ होती है, उसमें अपने भिन्न चरित्रों की भावनाओं की जितनी सच्ची अनुभूति होती है और कहानी-कला में उसकी जितनी निपुणता होती है उतनी ही अच्छी, उतनी ही सुन्दर और उतनी ही महान् कहानी वह लिख सकता है। वह जीवन को देखता ही नहीं, जीवन में उसकी पैठ होती है। उसका जीवन का निरीक्षण और उसकी व्याख्या खरी और सत्य होती है। वह साधारण मनुष्य को अपनी कहानी में जीवन का वह पहलू दिखलाता है जिसे उसने देखकर भी नहीं देखा। मानवता के जीवन की अँधेरी कोठरी में कलाकार की दिव्य दृष्टि जो प्रकाश की किरण फेंकती है उसके आलोक में साधारण मनुष्य भी उस दृश्य को देखने में समर्थ हो

जाते हैं जिसका दर्शन पाना उनके लिए असम्भव था। और कलाकार की दृष्टि में यह प्रकाश कहाँ से आया? क्योंकि उसमें वह ईश्वर-प्रदत्त या स्वाभाविक शक्ति है जिससे वह जीवन की यथार्थता को देख और समझ लेता है, जिससे वह जीवन का पूरा रूप भली भाँति जान लेता है और उसकी निगाह जीवन के सौन्दर्य और उसके अर्थ को एक निमेषमात्र में, झलक पाते ही, समझ लेती है। तभी वह दूसरों को जीवन के सौन्दर्य की, जीवन के महत्त्व की तथा उसके सच्चे अर्थ की झाँकी दिखला सकता है। जीवन का यही यथार्थ दर्शन कराना मानवता को कलाकार का सबसे बड़ा वरदान है। वह मंदिर के पुजारी की भाँति यथार्थता का दर्शन कराता है। दर्शक अपनी श्रद्धा, भक्ति और दृष्टि की शक्ति के अनुसार उस दर्शन से लाभ उठाते हैं। किन्तु वह उपदेश नहीं देता। वह पुजारी है, धर्माचार्य या उपदेशक नहीं।

बहुत से कहानी-लेखक इस बात के लिए उत्सुक रहते हैं कि वे कला की सार्थकता लोगों को बतलावें जिससे लोगों को यह विश्वास हो जाय कि कहानी-लेखक या कलाकार होना ऊलजलूल, उद्देश्यहीन या निरर्थक नहीं है। कभी-कभी कुछ कवि भी इसी प्रकार अपनी काव्य-साधना को सोद्देश्य सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। वे चाहते हैं कि जनता समझ जाय कि उनकी कृतियों में उनके लिए कोरा मनोरंजन ही नहीं है, प्रत्युत उसमें उनके लिए विचार की सामग्री है, जीवन के लिए संदेश है और आचरण के लिए उपदेश है। इसका उत्तरदायित्व थोड़ा-बहुत उन समालोचकों और पढ़े-लिखे पाठकों पर भी है जो कला की प्रत्येक कृति में सन्देश या उपदेश की खोज करके उसके मिलने पर कृति को अच्छा और न मिलने पर उसे बुरा कहा करते हैं।

मैंने बचपन में एक पंडित जी से, एक कथा सुनी थी। वह कथा किसी प्रामाणिक ग्रंथ में नहीं है। कहा जाता है कि जब भगवान् रामचन्द्र लंका विजय करके अयोध्या लौटे तब बड़ी धूमधाम से उनका राज्याभिषेक हुआ। राज्याभिषेक के बाद उपस्थित सामंतों को उपहार दिये जाने लगे। जब हनुमान् जी की बारी आई तब भगवान् ने अपने प्रिय सेवक पर विशेष अनुग्रह दिखलाने के लिए अपने गले से मणियों का हार उतारकर उन्हें पहना दिया। हनुमान् जी देवता अवश्य थे, किन्तु देवता होने से भी पहले थे वे बन्दर। अतएव उन्होंने एक झटके में हार तोड़ डाला और मणियों की गुरियों को एक एक करके हार में से निकालने लगे। एक गुरिया निकालकर वे उसे अपनी वज्र-मुष्टि से तोड़कर दो कर डालते, उसके टुकड़ों को उठाकर उनमें न मालूम क्या देखते और फिर

फेंक देते। सब मणियों को तोड़ चुकने के बाद उन्होंने भगवान् से निवेदन किया--"महाराज! यह हार मेरे किस काम का? इसकी किसी भी गुरिया में बाहर-भीतर कहीं भी रामनाम अंकित नहीं है!"

जब मैं अपने कुछ मित्रों से कहानियों की समालोचना सुनता हूँ तब मुझे यह कथा स्मरण हो आती है। चाहे कहानी मणि के समान ही सुंदर, मूल्यवान् और निर्दोष और कलापूर्ण क्यों न हो, वे हनुमान् जी की तरह पूछ बैठते हैं—"इसमें क्या संदेश या क्या उपदेश है? पीड़ित मानवता की समस्या का इसमें कौन-सा हल है?" (मानो पीड़ित मानवता की समस्यारूपी हल की बदली कहानीरूपी पवन के बवंडर से उड़ जायगी!) किंतु कहानियों में 'उपदेश' या 'मानवता के कल्याण' का पुट देना हमारे आधुनिक मित्रों की मौलिक सूझ नहीं है। परम प्राचीन काल से मनुष्य ने 'उपदेश' देने के लिए कहानी का उपयोग किया है। 'जातक' की कथाएँ ले लीजिए, हितोपदेश (जैसा कि उसके नाम ही से प्रकट होता है) की कहानियाँ देखिए, कथासरित्सागर के लच्छेदार कथानकों का विश्लेषण कर लीजिए। सबमें आपको 'उपदेश' का ध्येय दिखलाई पड़ेगा। वास्तव में बड़े बड़े प्रचारक और धर्म-प्रवर्त्तक भी सूक्ष्म आध्यात्मिक या नैतिक बातों को साधारण जनता को समझाने के लिए स्थूल कहानी का सहारा लेते थे। वास्तव में ये कहानियाँ 'दृष्टांत' के रूप में आती थीं जिससे 'उपदेश' स्पष्ट हो जाय। बुद्ध की जातक कथाएँ या हजरत ईसा मसीह के 'दृष्टांत' इस बात के बहुत अच्छे उदाहरण हैं। 'उपदेश' तो धर्माचार्य देते हैं, किंतु बालकों को शिक्षा देनेवाले साधारण लोग हुआ करते हैं। उनके सामने आध्यात्मिक समस्याएँ नहीं रहतीं। उन्हें या तो आचार अथवा नीति-संबंधी या पाठ्य विषयों से संबंधित बातें समझानी पड़ती हैं। उन्होंने भी देखा कि बालकों को सूक्ष्म बातें हृदयंगम कराने के लिए कहानियाँ बहुत सफल साधन हैं। अतएव हितोपदेश, पंचतंत्र और ईसप की कहानियों की सृष्टि हुई। इनमें कहानी का मूलतत्त्व—रोचकता—प्रचुर मात्रा में है, किंतु इनका उद्देश्य 'मनोरंजन' या 'अपने पड़ोसियों के संबंध में जानकारी' नहीं है। उनमें पशु-पक्षियों की भी कहानियाँ होती हैं। किंतु ये पशु-पक्षी मानवी गुणों से सम्पन्न होते हैं। आकार में पशु होते हुए भी इनका हृदय, इनका मस्तिष्क, इनकी विचार-शक्ति मनुष्यों के समान होती है। 'गंगदत्त' मेढक या 'मगर और बंदर' की कथावाले मगर और बंदर विचारों और भावनाओं में, यहाँ तक कि बोली में भी, मनुष्य के अनुरूप हैं। उनका पशु होना आवश्यक है—कहानी की रोचकता के लिए और उसे संभव बनाने के लिए। अतएव पशु होने पर भी वे मनुष्य

के समान हैं और उनमें भी सुननेवालों को उतनी ही दिलचस्पी रहती है जितनी अन्य मनुष्यों के कार्यों में। इस प्रकार कहानियों का गठन करके उनसे न पढ़नेवाले और खिलाड़ी राजकुमारों तथा अन्य नागरिकों के बालकों को 'शिक्षा' देने का काम लिया जाने लगा।

इन कहानियों का आकार छोटा और रूपरेखा स्पष्ट होती है। इनमें अप्रासंगिक बातें बिलकुल ही नहीं होतीं। कम से कम शब्दों में वह कह दी जाती है। जैसे—कछुआ और खरगोश की कहानी। यह नहीं बतलाया गया कि घटना कब या कहाँ घटी। कछुए और खरगोश के संबंध में और कोई भी बात नहीं बतलाई गई। उस मैदान का भी वर्णन नहीं किया गया जहाँ दोनों की प्रतियोगिता हुई थी। "सतत कर्मशील व्यक्ति स्वभाव से कमज़ोर होने पर भी लापर्वाह बलवान् व्यक्ति को भी हरा सकता है"—केवल इतनी बात बालकों को हृदयंगम करानी है। अतएव कहानी में कोई भी अनावश्यक बात नहीं आने पाई। इस तत्त्व को समझाने के लिए जितनी अत्यंत आवश्यक बातें हैं, वे ही कहानी में रखी गईं। उद्देश्य केवल दृष्टांत देकर समझाना है। यदि दृष्टांत स्पष्ट और छोटा न हुआ तो सुननेवाला कहानी में उलझ जायगा और दृष्टांत के तत्त्व को देख न पायेगा। किन्तु पात्र इतने सच्चे हैं और हमें अपने चारों ओर ऐसे काहिल खरगोश और चतुर कछुए इतने अधिक दिखलाई पड़ते हैं कि कहानी के खरगोश और कछुए के बारे में हमें और अधिक उत्सुकता रह ही नहीं जाती।

आज के प्रचारक भी कहानियों का उपयोग करते हैं। उनमें कहानी की अन्तर्प्रेरणा नहीं होती और न उनकी कहानी में जीवन का तात्त्विक निरीक्षण होता है। वे पंचतन्त्र की कहानियों की तरह आवश्यकतानुसार कहानियाँ "गढ़ते" हैं। पंचतन्त्र के लेखक का उद्देश्य बालकों को शिक्षा देना था। इनका उद्देश्य किसी 'वाद' का प्रचार करना होता है। इसी लिए वे 'जीवन' के 'सत्य' का चित्रण न करके उद्देश्य के अनुरूप वातावरण की कल्पना करते और उसमें कहानी को प्रतिष्ठित करके अपने 'वाद' का प्रचार करते हैं। संभव है कि इन कहानियों में कुछ कहानियाँ कथा-लेखन-शैली (Technique) की दृष्टि से अच्छी भी हों, किंतु वे उसी पद्य के टक्कर की होती हैं जो बिदाई के समय किसी अफसर की प्रशंसा में बनवाया जाता है। दुर्भाग्य से कहानी और कविता दोनों ही प्रचार के सुंदर साधन हैं। इसलिए प्रचारकों ने सदैव इनका उपयोग किया है और सदैव करते रहेंगे। यदि प्रचारक योग्य हुए तो उनकी कृतियाँ निर्दोष भी होंगी। किंतु उनका मूल्यांकन ऊँचा नहीं हो सकता

क्योंकि वे सत्य से प्रेरित नहीं हैं। वे उस वस्तु का प्रचार करने का साधन हैं जिसे लेखक 'सत्य' समझे हुए है। यह कार्य न तो अनैतिक है और न अवांछनीय। उपदेश या प्रचार का साधन किसी भी वस्तु को बनाया जा सकता है। किंतु जिस प्रकार 'उपदेश' रखते हुए भी कहानी का सुंदर होना आवश्यक नहीं है, उसी प्रकार यह समझ लेना भी भूल है कि चूँकि कहानी में अमुक 'वाद' का प्रचार किया गया है इसलिए वह अच्छी है। और दुर्भाग्य से बहुत से पाठक और समालोचक कहानी की कला और उसकी प्रेरणा तथा लेखक के जीवन के निरीक्षण पर उतना ध्यान नहीं देते जितना वे उसके 'संदेश' या 'उद्देश्य' पर। इसलिए उनका मूल्यांकन ठीक नहीं उतर पाता। सारांश यह कि ऐसी कहानियाँ जो किसी विशेष उद्देश्य को लेकर लिखी जाती हैं और जिनका आधार जीवन के निरीक्षण से प्राप्त सत्य नहीं है, उस छंद के टक्कर की हैं जो समस्या की पूर्त्ति के लिए बनाया गया है। समस्या पूरक छंद में कला हो सकती है, पिंगल से वह ठीक हो सकता है, उसमें बात भी ढंग की और चौकस हो सकती है, उसमें कलाबाजी, निपुणता, शब्द-चातुर्य आदि गुण भी हो सकते हैं, किंतु उसमें 'कविता' का होना आवश्यक नहीं है। वह प्राय: पद्य होगा क्योंकि कवि के हृदय में उसके लिखने की प्रेरणा नहीं हुई। वह बाहरी आवश्यकता या आदेश के कारण लिखी गई है। वास्तविक कविता वह है जो कवि के हृदय से उठे।* उसी प्रकार जो कहानी किसी समस्या को सुलझाने या प्रचार के लिए लिखी जाती है और जिसकी प्रेरणा लेखक के हृदय से नहीं प्रत्युत मस्तिष्क से होती है वह 'कहानी' की दृष्टि से प्राय: ऊँची नहीं होती।

इसका यह तात्पर्य नहीं है कि कहानी से कोई 'सार' या 'उपदेश' निकलना ही नहीं चाहिए। जो ढंग की कहानी होगी उससे कुछ न कुछ निष्कर्ष निकलेहीगा। किंतु प्रश्न यह है कि उस निष्कर्ष ने कहानी की सृष्टि की है और उसकी गति को बंधन में रखा है अथवा कहानी मुक्त-रूप से चली है और निष्कर्ष छाया की तरह उसका स्वाभाविक पिछलग है। पहली दशा में कहानी निष्कर्ष उत्पन्न करती है। दूसरी अवस्था में निष्कर्ष कहानी बनाता है।

प्रश्न हो सकता है कि—'निष्कर्ष' द्वारा कहानी की सृष्टि क्यों

---

*यदि कभी ऐसा संयोग हो कि वाह्य और आंतरिक प्रेरणाएं एक ही हों तो ऊपर से समस्यापूरक होते हुए भी अन्त:प्रेरित होने के कारण समस्या पूर्ति का छंद भी सुंदर काव्य हो जायगा।

अवांछनीय है? इसका संक्षिप्त उत्तर यह है कि कला तभी महान् और सुंदर होती है जब वह स्वतंत्र और मुक्त हो। कलाकार अपनी अनुभूति में स्वतंत्र हो, उसके प्रकाशन में स्वतंत्र हो। स्वतंत्र होने पर ही वह सत्य का दर्शन यथारुचि और यथाशक्ति भिन्न भिन्न दृष्टिकोण से करके उसके स्वरूप को ठीक ठीक समझ सकता है। किंतु यदि उसे बंधन में रख दिया गया और उससे कहा गया कि 'तुम सत्य को केवल एक ही दृष्टिकोण से देखो', तो उसका 'सत्य' सीमित और आंशिक होगा। इसी प्रकार यदि उसको 'भाव-प्रकाशन' में स्वतंत्रता न रही तो उसे बहुत सा सत्य दबाना पड़ेगा और अंशों या अंगों को गोपन कर देने से उसकी बनाई सत्य की मूर्त्ति पूरी न होगी। फलतः जो चित्र वह देगा वह उसकी दृष्टि से भी अधूरा और आंशिक सत्य होगा और आंशिक सत्य कभी कभी असत्य से भी अधिक भयंकर होता है। इस भावप्रकाशन को दबाने के कारण लेखक में "हार्दिकता" (सिंसियरिटी) न रह जायगी। वह कुछ अंश को 'गोपन' करने या विशेष प्रभाव उत्पन्न करने की चेष्टा में शायद चित्र को अस्वाभाविक भी बना दे। यदि वह कुशल कलाकार हुआ तो उसका अस्वाभाविक चित्र भी सुंदर मालूम होगा और उसकी कला आंशिक सत्य तथा अस्वाभाविकता का प्रचार करेगी।

अतएव जीवन के दर्शन कर सकने और उसके समझने की शक्ति के सिवाय लेखक में निरीक्षण और प्रकाशन—दोनों ही प्रकार की स्वतंत्रता तथा हार्दिकता होनी आवश्यक है। इन वस्तुओं के बिना उसकी कृति कभी महान् नहीं हो सकती, भले ही उसकी कुशलता के कारण उसमें न्यूनाधिक सौंदर्य आ जाय।

वास्तव में यदि प्रचार की कहानियाँ—दृष्टांत के रूप में निर्विवाद और सर्वमान्य नैतिक तत्त्वों को समझाने के लिए न हुईं और यदि वे कहानियों का मुख्य उद्देश्य—मनोरंजन और आनन्द—पूरा नहीं करतीं तो वे वाद-विवाद की वस्तु हो जाती हैं। पाठक भिन्न भिन्न विचारों के होते हैं और भिन्न भिन्न वादों के अनुयायी होते हैं। समान विचार या समान वाद के समर्थक एक वाद की कहानी की प्रशंसा करेंगे और उसके विरोधी उसका विरोध। कहानी मतभेद और विचारों के संघर्ष तथा कन्ट्रोवर्सी का कारण हो जायगी। वह कुछ लोगों के विचारों की पुष्टि करेगी, कुछ ढुलमुल लोगों को अपने प्रचारित वाद की ओर खींचेगी और विरोधियों को उस वाद के विपक्ष में उत्तेजित करके विरोध को भी बल देगी। वह हृदय के आनन्द का विषय न होकर मतभेद का विषय बन जायगी। किंतु कदाचित् लेखक की दृष्टि में यह कोई दोष नहीं है क्योंकि उस कहानी के लिखने में

(प्रचारक होने के कारण) उसका उद्देश्य ही विचारोत्तेजना उत्पन्न करना है। इसलिए वह उसे दोष नहीं समझेगा।

कुछ कहानी-लेखक सफाई के जमादारों का काम करते हैं। नगर के स्वास्थ्य के लिए अवश्य ही यह आवश्यक है कि कूड़ेखानों, नालियों और संडासों का निरीक्षण करके उन्हें ठीक अवस्था में रखा जाय। किंतु यह निर्विवाद है कि नालियाँ और संडास आवश्यक हैं। समस्या केवल उनके ठीक ढंग से रखने की है। यदि कोई कहे कि नगर में नालियाँ हैं—और उनका होना दुर्भाग्य है, तो लोग उससे सहमत न होंगे। उनके सुधार की योजना से बहुत से लोग सहमत हो जायँगे। जिस प्रकार शिष्ट से शिष्ट और सभ्य से सभ्य परिवार के घर में भी कुछ न कुछ कूड़ा-करकट निकलता ही है, उसी प्रकार अच्छे से अच्छे समाज में कुछ न कुछ दोष रहते हैं। वे दोष अवांछनीय हो सकते हैं। वे हानिकर भी हो सकते हैं। किंतु यदि हम उन पर ही जोर दें और केवल उन्हीं का वर्णन करें तो अतिशय जोर देने के कारण पढ़नेवाले उन दोषों को अत्यधिक महत्त्व देने लगेंगे और गुणों के सामने न आने के कारण उनको यह धारणा हो सकती है कि चित्रित समाज बुरा है। कोई भी समाज निर्दोष नहीं होता। किन्तु सामूहिक रूप से गुण-दोषों का लेखा-जोखा लगाकर ही उसे अच्छा या बुरा कह सकते हैं। यदि कोई लेखक साधु के दोष दिखाने पर ही तुल जाय तो वह पाठकों पर यह प्रभाव छोड़ सकता है कि साधु व्यक्ति भी असाधु है। कहानी में, जहाँ स्थान के संकोच के कारण, केवल एक झलकमात्र दिखलाई जा सकती है वहाँ गुण-दोषों का विवेचन कठिन हो जाता है। किंतु यदि कोई लेखक अपने संग्रह में केवल दोषावली का ही वर्णन करता जाय तो उससे भ्रम फैल सकता है। सच्चे कलाकार जीवन के अच्छे-बुरे—सभी—चित्र खींचते हैं। वे दोषों को छोड़ नहीं देते। किंतु उनमें दोषों का चित्र उचित अनुपात में होता है।

समाज के दोषों के चित्र को जोरदार बनाने के लिए बहुधा लेखक अपनी कहानियों को दुःखान्तक बना देते हैं। हिन्दी में इस समय 'विषाद' की धूम है। कविता में भी विषाद का बोलबाला है और कहानियों में भी। कहानी के साथ साथ नायक या नायिका में से एक, और कभी कभी दोनों ही, समाप्त हो जाते हैं। कोई कूएँ में डूब मरती है तो कोई रेल से कट जाती है। कोई विष खा लेती है तो कोई छत पर से कूद पड़ती है। यदि लेखक ने दया करके उसके प्राण छोड़ भी दिये तो उसे विधवा और अनाथ करके जीवन भर रोने के लिए छोड़ दिया जाता है। बहुत से लेखकों के अन्तःमन में अपने जीवन से निराश होने के कारण समाज से प्रतिहिंसा की जो भावना

पैठी हुई है, वही भावना उनकी कलम से ये 'हत्याएँ' कराती है। संभव है कुछ लेखकों के स्वभाव में 'हत्या कम्प्लेक्स' रहता हो! जो भी हो, अधिकांश कहानियों में ये 'हत्याएँ' बड़े भद्दे ढंग से की जाती हैं और अधिकांश तो अनावश्यक भी होती हैं। संसार में कष्ट और आपत्ति तो मनुष्य के लिए उसी प्रकार स्वाभाविक हैं, जैसे रोग। इसी लिए संसार को दार्शनिक लोग 'भवरोग' कहते हैं। किंतु वास्तव में मनुष्य में इन आपत्तियों का सामना करने की शक्ति होनी चाहिए और यदि नहीं है तो उसे उत्पन्न करनी चाहिए। जिस कहानी को पढ़ कर बल न मिले वह प्रचार या उपदेश की दृष्टि से भी बेकार है। डाक्टर लोग नित्य शारीरिक पीड़ा या कष्ट देखते देखते उसकी उपेक्षा करने लग जाते हैं। यदि हमारे सामने नित्य नित्य अधनंगे लोग आते रहें तो हम थोड़े दिनों में उनको देखने के अभ्यस्त हो जायँगे और थोड़े दिनों बाद उस दृश्य से हमारे मन में कोई विशेष प्रतिक्रिया नहीं होगी। इसी प्रकार दोषों के सतत चित्रण से पाठकों को दोषों के प्रति सहानुभूति न होते हुए भी वे उनसे इतने अभ्यस्त हो जाते हैं और उन्हें इतना स्थिर सत्य समझने लगते हैं कि उनके प्रतिकार की कोई क्रियाशील प्रतिक्रिया उनके हृदय में उठ नहीं पाती। अतएव प्रचारक का मूल उद्देश्य असफल हो जाता है।

'विषाद-प्रधान' कहानियों का एक फल और होता है। हम जब थक जाते हैं या जब अपने व्यस्त जीवन से ऊब उठते हैं तब 'सिनेमा' देखने चले जाते या कोई 'हलकी' पुस्तक पढ़ने लगते हैं। थकावट के कारण हम कुछ ऐसा परिवर्तन चाहते हैं जिससे हमारा मनोरंजन हो और हममें कुछ उल्लास आवे। किंतु यदि कहानी वियोगान्तक हुई तो उल्लास की जगह हम में विषाद उत्पन्न हो जाता है और हमारे हृदय की गति वैसी ही धीमी पड़ जाती है जैसी अफीम खाने पर या 'मार्फिया' का 'इंजेक्शन' लेने पर हो जाती है। यह किसी भी प्रकार वांछनीय नहीं है। बराबर इसी प्रकार की कहानियाँ पढ़ते पढ़ते कमजोर हृदय और दुर्बल मस्तिष्क के लोगों पर विषाद का स्थायी प्रभाव पड़ जाता है। वे जीवन को विषाद-पूर्ण समझने लगते हैं और उनमें उल्लास अनुभव करने की योग्यता नष्ट-प्राय हो जाती है। इससे उनका व्यक्तिगत जीवन कटु हो जाता और गार्हस्थ्य तथा सामाजिक जीवन भी बिगड़ जाता है। वे इस सुख-दुखमय संसार के योग्य नहीं रह जाते और हर एक बात को विषाद और निराशा के दृष्टिकोण से देखने लगते हैं। ऐसे लोग अंत में प्रायः 'असामाजिक' प्राणी हो जाते हैं।

कहानियाँ लिखने के कई ढंग हैं। वे आत्मकथा, पत्र, और संस्मरण

रूप में भी लिखी जाती हैं। किंतु अधिकांश कहानियाँ 'कहनेवाले' की ाषा में—तृतीय वचन में—होती हैं। कहानियों में विस्तृत चरित्र-चित्रण ो गुंजाइश नहीं होती इसलिए वे प्रायः घटना-प्रधान होती हैं—चरित्र-धान नहीं। इस प्रकार की कहानियों का सबसे अच्छा उदाहरण जासूसी हानी है जिसमें घटनाएँ चरित्र को बिलकुल दबा देती हैं। ऐतिहासिक हानियों का मुख्य आधार कोई ऐतिहासिक घटना होती है। उसमें यह ावश्यक है कि उसका ऐतिहासिक वातावरण सच्चा हो और उससे स्तुत घटना का तथा उसके चरित्र-नायक के उस घटना-संबंधी कार्य ा स्पष्टीकरण हो जाय तथा पाठकों को वह स्पष्टीकरण स्वाभाविक ौर सच्चा मालूम पड़े। जब से पश्चिम में मनोविज्ञान की नई खोजें ुई हैं तब से मनोविश्लेषण-संबंधी कहानियाँ भी लिखी जाने लगी हैं। फ्राइड नामक एक डाक्टर ने बहुत से रोगों का कारण यह बतलाया है कि हम अपने बहुत से मनोभावों को दबाने का उद्योग करते हैं या किसी प्रकार का भय हममें समा जाता है। ये दबे हुए मनोभाव—यदि उनका ठीक मांगलीकरण न हुआ—और ये भय हमारे मस्तिष्क में हमारे अनजान में चोर की तरह घुसे बैठे रहते हैं और हमारे प्रकट व्यवहार को प्रभावित करते रहते हैं। कभी कभी हम ऐसे काम कर बैठते हैं जिनका प्रत्यक्ष कारण मालूम ही नहीं होता। कुछ लोगों में ये छिपे और दबे हुए मनोभाव रोग का रूप धारण कर लेते हैं और मनुष्य में तरह-तरह की शारीरिक तथा चरित्र-संबंधी बुराइयाँ उत्पन्न कर देते हैं। फ्राइड का कहना है कि ये तभी दूर हो सकती हैं जब हम उन दबे हुए मनो-भावों को निकाल दें अर्थात् हम रोगी को उनका कारण स्पष्ट कर दें। किंतु डाक्टर को यह नहीं मालूम कि रोगी के जीवन में कब, कैसे तथा कौन से मनोभाव चोर बनकर बैठ गए हैं। इसलिए फ्राइड ने उनका पता लगाने के लिए एक विशेष रीति का आविष्कार किया। इसका नाम 'साइको अनालिसिस' या मनोविश्लेषण है। इसमें डाक्टर रोगी के निरीक्षण और प्रश्नों-द्वारा उसके मन में पैठे हुए भय और दबे हुए विकृत भावों का पता लगाता है। मनोविश्लेषण की रीति के आविष्कार के बाद पश्चिम में इस नवीन वस्तु ने बड़ा प्रभाव उत्पन्न किया और जीवन के बहुत से क्षेत्रों में उसका उपयोग होने लगा। कहानी-लेखकों का जीवन से निकट संबंध होता है। अतएव उन्होंने इसका उपयोग आरंभ किया। और खूब किया। केवल रोगियों में ही नहीं, वे स्वस्थ पुरुषों में भी विकृत-भावों को देखने और उन्हें मनोविश्लेषण का पात्र समझने लगे। योग्य और मनोविज्ञानवेत्ता कहानी-लेखकों ने उनका ठीक ठीक उपयोग किया

किंतु अन्य लोगों के हाथों में पड़कर मनोविश्लेषण की दुर्दशा हो गई। हमारे देश में भी उनका अनुकरण आरंभ हुआ और आज तो बहुत कम ऐसे कहानी-लेखक हैं जो 'मनोवैज्ञानिक' न हों। "आधुनिक" कहानी के लिए 'मनोवैज्ञानिक' होना आवश्यक सा समझा जाता है और सभी कहानी-लेखक 'आधुनिक' कहलाना चाहते हैं।

आधुनिक कहानियों में एक और महत्त्वपूर्ण धारा है। वह है राजनैतिक कहानियों की। यहाँ 'राजनैतिक' शब्द व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। समाज के राजनैतिक संगठन के आर्थिक आधार पर, धन की विषमता पर, देश की राजनैतिक स्थिति पर, और इसी प्रकार के विषयों पर सैकड़ों कहानियाँ लिखी गई हैं। इनमें कुछ कहानियाँ बहुत अच्छी हैं। किंतु अधिकांश विचार-प्रधान न होकर 'प्रचार-प्रधान' हैं। परिणाम यह हुआ है कि उनमें गुणों और दोषों की अतिरंजना कर दी गई है। लेखक अपनी प्रिय मान्यताओं के अनुकूल लोगों को देवता, और अप्रिय मान्यता-वालों को राक्षस बना देता है। वास्तविक संसार में मनुष्य न देवता है और न राक्षस। वह केवल मनुष्य है जो भलाइयों और बुराइयों का समूह है। वह अपने नैतिक बल के अनुसार कभी कभी देवतुल्य और उस बल की अनुपस्थिति में राक्षसतुल्य काम कर सकता है। किंतु स्थायी रूप से वह मनुष्य ही है। उसकी 'मानवता' ही सत्य है। अवश्य ही वह विकासशील है और उसे नैतिकता में सतत ऊपर उठते रहना चाहिए।

और यह नैतिकता है क्या वस्तु ? इसका उत्तर बड़ा विवादग्रस्त है। मोटे ढंग से हम यह कह सकते हैं कि मनुष्य में जो पाशविक प्रवृत्तियाँ हैं उनको मानवी प्रवृत्तियों से उचित ढंग से दबाना ही नैतिकता है। एक प्रसिद्ध फ्रेंच दार्शनिक—डिकार्टे—ने कहा है कि 'मनुष्य = शरीर + आत्मा।' शरीर से सम्बन्ध रखनेवाली कुल प्रवृत्तियाँ और उनसे उत्पन्न मनोभाव पाशविक हैं। जैसे भूख शरीर का धर्म है। उसके कारण खाद्य पदार्थ प्राप्त करने की आवश्यकता होती है। उसे प्राप्त करने के लिए जंगली और असभ्य अवस्था में मनुष्य चाहे जिस प्रकार हो—लूटकर, मारकर—उसे प्राप्त करता है। अतएव लालच और हिंसा उसी पाशविक आवश्यकता 'भूख' से उत्पन्न प्रवृत्तियाँ हैं। हिंसा के साथ क्रूरता आवश्यक है। यह भी पाशविक प्रवृत्ति है। किन्तु इनके विपरीत 'दया' और 'स्नेह' हैं। इनका मूल कारण बच्चे का रक्षण और पोषण है जिनके बिना जाति का नाश हो जायगा। अतएव रक्षण और पोषण की प्रवृत्तियाँ पाशविक आवश्यकता पर आधारित न होकर 'जाति' की आवश्यकता पर निर्भर हैं। दूसरे शब्दों में वे 'सामाजिक' प्रवृत्तियाँ या मानव प्रवृत्तियाँ

तुम वर माँग लेना। मेरे कहने से यह माँगना कि 'मैं तुम्हारे वर्ग का एक हो जाऊँ'।"

दूसरे दिन प्रातःकाल गन्धर्वों ने पुरूरवा को वर देना चाहा। पुरूरवा ने यह वर माँगा, "मैं तुममें एक हो जाऊँ।"

——

प्राण संवाद

[छान्दोग्य उपनिषद् से]

सब इन्द्रियों ने श्रेष्ठता के लिए "मैं बड़ा हूँ, मैं बड़ा हूँ" कह-कर आपस में विवाद किया। उन इन्द्रियों ने पिता प्रजापति के पास जाकर पूछा—"भगवन्, हममें कौन श्रेष्ठ है?" प्रजापति ने उत्तर दिया "जिसके निकल जाने से शरीर सबसे अधिक दुर्दशा को पाता है, तुममें वही श्रेष्ठ है।"

वाणी निकल गई। यह एक वर्ष बाहर रहकर लौट आई और उसने पूछा, "मेरे बिना तुम लोग कैसे जी सके?" अवशिष्ट इन्द्रियों ने उत्तर दिया, "जैसे गूँगे न बोलते हुए, परन्तु प्राण से साँस लेते हुए, चक्षु से देखते हुए, कर्ण से सुनते हुए, मन से सोचते हुए रहते हैं, वैसे ही।" वाणी पुनः शरीर के अन्दर प्रविष्ट हुई।

चक्षु निकल गई। वह एक वर्ष बाहर रहकर लौट आई और उसने पूछा, "मेरे बिना तुम लोग कैसे जी सके?" अवशिष्ट इन्द्रियों

ने उत्तर दिया, "जैसे अन्धे न देखते हुए, परन्तु प्राण से साँस लेते हुए, वाणी (जिह्वा) से बोलते हुए, कर्ण से सुनते हुए, मन से सोचते हुए जीते हैं, वैसे ही।" चक्षु पुनः शरीर के अन्दर प्रविष्ट हुई।

कर्ण निकल गया। वह एक वर्ष बाहर रहकर लौट आया और उसने पूछा, "मेरे बिना तुम लोग कैसे जी सके?" अवशिष्ट इन्द्रियों ने उत्तर दिया, "जैसे बहिरे न सुनते हुए, परन्तु प्राण से साँस लेते हुए, वाणी से बोलते हुए, चक्षु से देखते हुए, मन से सोचते हुए जीते हैं, वैसे ही।" कर्ण पुनः शरीर के अन्दर प्रविष्ट हुआ।

मन निकल गया। वह एक वर्ष बाहर रहकर लौट आया और उसने पूछा, "मेरे बिना तुम लोग कैसे जी सके?" अवशिष्ट इन्द्रियों ने उत्तर दिया, "जैसे बच्चे बुद्धिहीन प्राण से साँस लेते हुए वाणी से बोलते हुए, चक्षु से देखते हुए, कर्ण से सुनते हुए जीते हैं वैसे ही।" मन पुनः शरीर के अन्दर प्रविष्ट हुआ।

अब प्राण जब निकलने लगा उसने सब इन्द्रियों को साथ साथ उखाड़ दिया जैसे एक अच्छा घोड़ा पिछाड़ी के खूँटों को उखाड़ देता है। तब सब इन्द्रियों ने मिल कर प्राण के सामने आकर कहा, "भगवन्! आइए। आप ही हम सब में श्रेष्ठ हैं। आप निकल न जाइए।"

गर्वहरण

[केन उपनिषद् से]

प्राचीन काल में जब देवासुर-संग्राम में ब्रह्म विद्या के बल से देवता लोग विजयी हुए और असुरों की पराजय हो गई, तब देवताओं को अपनी इस अभूतपूर्व विजय पर बड़ी प्रसन्नता हुई। वे अपने ऊपर होनेवाले उन घोर आसुरी अत्याचारों की चर्चा तो एकदम भूल गये, जब असुरों ने नाकों दम कर दिया था; पर अपने इस विजय की वार्ता को रात दिन चलाया करते थे। बिना प्रसंग के ही अपनी वीरता की कहानी सुनाने में उन्हें अपना देवत्व भी भूल गया और वे इतने गर्वोन्मत्त हो गये कि मनुष्यों में भी उनकी अधमकोटि में गणना की जा सकती थी। उन्हें यह कभी भूलकर भी स्मरण नहीं होता था कि हमारी विजय का प्रधान कारण वह ब्रह्मबल था जो असुरों के पास नहीं था और जिसके बिना हमारी शक्ति कुछ भी नहीं है। तात्पर्य यह कि उनकी कृतघ्नता हद दर्जे तक बढ़ गई। वे कहने लगे, "हमीं लोगों ने यह विजय प्राप्त की है, हम देवताओं-जैसे भाग्यशाली जगत् में कोई नहीं हैं। अब हमारे समान यशस्वी इस संसार में कौन है? हम लोगों के समान सुन्दर, स्वस्थ और पराक्रमी कौन हो सकता है? युद्ध में जो हस्तकौशल हमने दिखलाये हैं, उन्हें कौन जानता है? असुरों की क्या शक्ति है जो अब हमारे सम्मुख पुनः कभी खड़े होने का हौसला करें? यही नहीं, हम लोग बड़े ही शान्त, इन्द्रियजित् तथा धैर्यशाली हैं। ब्रह्माण्ड भर में हम लोगों के समान कोई नहीं है?"

देवताओं के इस गर्व को देखकर ब्रह्म को चिन्ता हुई। उन्होंने सोचा, ये हमारे पुत्र हैं। इनके कल्याण की भावना से हमको विचलित

नहीं होना चाहिये। इनमें जो राजसिक भाव आ गये हैं, वे पाप के कारण हैं, जो इनके विनाश की सूचना दे रहे हैं। हमारा यह कर्त्तव्य है कि इस अशुभ अवसर में इनकी रक्षा करें। मेरी ही कृपा से यद्यपि इनको यह विजय प्राप्त हुई है; पर कृतघ्नों की भाँति ये हमारा स्मरण नहीं कर रहे हैं और अपने को ही सब कुछ मान बैठे हैं। कृतघ्नता के समान संसार में कोई महान् पाप नहीं है। पर ये हमारे बालक हैं। इनकी मूढ़ता को छुड़ाने के लिये हमें प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि हमारा स्वभाव ही उपकार करना है।

इस प्रकार की चिन्ता कर ब्रह्म ने अपने परमप्रिय देवताओं की हितकामना से एक ऐसे विशालकाय यक्ष का स्वरूप धारण किया जिसके शरीर में अनन्त नेत्र, अनन्त मस्तक, और विशाल बाहु थे। मुख, पैर, पेट आदि की बनावट भी इसी प्रकार अति भीषण दिखाई पड़ रही थी। ऐसे आश्चर्यमय यक्ष शरीर को देखकर देवताओं को बड़ा विस्मय हुआ और आपस में वे कानाफूसी करने लगे कि यह विचित्र जीव कहाँ से आगया ? जानना चाहिये कि यह कौन है ? देवताओं को विस्मित देख ब्रह्म ने अपने शरीर को और भी विचित्र बनाया, जिससे वे बहुत ही भयभीत हुए। उनके रोंगटे खड़े हो गये, ओंठ सूख गये, हड़कम्प होने लगा, और भयभीत स्वर में जोर जोर से पुकारने लगे कि 'तू कौन है।' उस समय उनका सारा गर्व धूल में मिल गया। यह भी भूल गये कि हम कौन है ? और अभी थोड़ी देर पहले क्या क्या सोच रहे थे।अस्तु।

बहुत देर तक सोचने-विचारने पर भी उन्हें यह समझ नहीं आई कि ऐसे अवसर पर क्या करना चाहिये। उनमें से किसी को भी उस यक्ष के समीप जाने का साहस नहीं हो रहा था। अन्ततः सब ने अग्नि से अनुरोध किया कि तुम जाकर इस विचित्र प्राणी का पता

लगाओ कि आखिरकार यह है कौन? हमारा मित्र है या शत्रु? क्या करना चाहता है? परम बुद्धिमान् देवताओं के अग्रगण्य अग्नि ने उनका अनुरोध स्वीकार किया और धीरे-धीरे उस यक्ष के समीप प्रस्थान किया। पास पहुँचते ही यक्ष ने गम्भीरतापूर्वक पूछा, तू कौन है? अग्नि को अपने अव्यर्थ होनेवाले पराक्रम का स्मरण हुआ और वह अभिमानपूर्ण स्वर में गम्भीरता से बोला—'मुझे जातवेदस् अग्नि के नाम से लोग जानते हैं।' यक्ष ने अपने गम्भीर स्वर में फिर पूछा, 'तुझमें क्या पराक्रम है?' अग्नि ने मुस्कराते हुए कहा, 'इस चराचर जगत् में जो कुछ भी मूर्त्तिमान् देख रहे हो, मैं सबको एक क्षण में भस्म करने की शक्ति रखता हूँ—इतना मुझमें पराक्रम है।' अग्नि की दर्पोक्ति सुनकर यक्ष ने मुस्कराते हुए एक सूखा तिनका उठाया और कहा, 'यदि तुझमें कोई पराक्रम है तो इसे जला दे।' अग्नि ने सोचा यह कितना मूर्ख है जो हमारे प्रभाव में विश्वास नहीं करता। एक मन्द मुस्कान के साथ उसने अपना पराक्रम व्यक्त किया; पर तृण में कोई भी परिवर्तन नहीं दिखाई पड़ा। फिर उसने अपना जी तोड़ पराक्रम लगाया; पर तृण में फिर भी कोई विकार नहीं उत्पन्न हुआ। तब उसे बड़ी शर्म लगी। सिर नीचा कर देवताओं की ओर कातरभाव से वह देखने लगा। और समीप में आकर बोला, 'देव-वृन्द! इस महान् यक्ष का प्रभाव अपार है। मैं इसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता; अब आप लोग जो उचित समझते हों, करें।' देवता लोग बहुत घबराये और वायु से अनुरोध करने लगे कि 'अब आप ही हमें शरण दे सकते हैं। जाइये, देखिये कि यह कौन है जो अपने पराक्रम से हमें भयभीत और किंकर्त्तव्यविमूढ़ कर रहा है।'

वायु देवताओं का यह अनुरोध टाल नहीं सके और यद्यपि उन्हें अग्नि की असफलता का पता लग चुका था तथापि देवताओं की

अधीरता और अपनी प्रशंसा सुनकर वे फूल उठे। गर्वोन्मत्त वायु यक्ष के पास ठीक से पहुँचे भी नहीं थे कि उधर से आवाज आई 'तू कौन है?' अपमानपूर्ण ध्वनि सुनकर वायु को अमर्ष हुआ और उन्होंने भी अपमान व्यक्त करते हुए कहा 'तू जानता नहीं है, मैं आकाशचारी वायु हूँ? मेरी गति अबाध है।' यक्ष ने कहा, 'तुझ में कितनी शक्ति है?' वायु ने कहा 'अरे! क्या तुझसे यह कहना पड़ेगा कि मैं इस समस्त ब्रह्मांड को तितर-बितर कर सकता हूँ। कौन है ऐसा पराक्रमी जो मुझसे बराबरी करने का दावा करे?' यक्ष ने कहा 'इसी सामने पड़े हुए तृण को उड़ा दे तो मैं यह मान लूँ कि तू बड़ा पराक्रमी है।' बेचारे वायुदेव का दम टूट गया। सारे प्रयत्न, सारी चालें व्यर्थ हो गईं, पर तृण का छोर भी टस से मस नहीं हुआ। उन्हें बड़ी ग्लानि तथा लज्जा हुई। भयभीत होकर देवताओं के बीच में जा खड़े हुए और कहने लगे कि 'देववृन्द! मुझमें भी इतनी सामर्थ्य नहीं है कि इस महान् यक्ष का पता भी लगा सकूँ कि यह कौन है।'' वायु की निराशापूर्ण बातें सुन देवताओं के हौसले पस्त हो गये। इतने दिनों बाद आज उन्हें फिर अपनी असमर्थता का वास्तविक बोध हुआ। तब उन्होंने देवराज इन्द्र की स्तुति की, और कहा :—'देवराज! तुम्हारे बिना अब ऐसा कोई नहीं दीख रहा है जो इस यक्ष का पता लगा सके।' इन्द्र देवताओं की ऐसी दशा देख यक्ष के समीप गये; पर उनके पहुँचने के पहले ही यक्ष वहीं पर अन्तर्धान हो गया, और एक ऐसी अपूर्व स्त्री वहाँ दिखाई पड़ी जिसकी रूपराशि के सामने सारा त्रैलोक्य फीका लग रहा था। उसके अनुपम सौन्दर्य की संसार में कोई उपमा नहीं थी। उस अनुपम सुन्दरी के सम्मुख विनत भाव से खड़े होकर इन्द्र ने निवेदन किया 'देवि! अभी अभी यहाँ पर दिखाई पड़नेवाला वह विशालकाय यक्ष कौन है? क्या तुम उसे बतला सकती हो।' देवी ने कहा, 'देवराज! वह

यक्ष ब्रह्म था। तुम लोगों में बढ़े हुए अभिमान को तोड़ने के लिये वह यहाँ आया था। उसी की कृपा से तुम लोगों ने असुरों पर विजय प्राप्त की थी; पर अज्ञानवश उसे भूलकर सब कुछ अपने को ही समझ रहे थे। क्या तुम लोग यह भूल जाते हो कि उसी ब्रह्मविद्या का असुरों में सर्वथा अभाव था, जिसके कारण तुम लोग उन पर विजयी हुए हो ? तुम लोगों के उपकार करने के लिए ही ब्रह्म ने यह लीला की थी।'

इस प्रकार उस सुवर्णालंकार से विभूषित परम सुन्दरी परमेश्वर के परम तत्त्व को जाननेवाली हैमवती उमादेवी की कृपा से देवताओं का गर्व चूर्ण हुआ और वे अपनी इस विफलता से परम प्रसन्न हुए।



ऋष्यशृङ्ग का उपाख्यान

[महाभारत से]

महर्षि लोमश राजा युधिष्ठिर से बोले—'हे राजन्! वे मुनि ऋष्यशृङ्ग के नाम से प्रसिद्ध हुए। उन्होंने अपने पिता (विभाण्डक ऋषि) को छोड़ अन्य किसी मनुष्य को नहीं देखा था। यही कारण था कि उनका चित्त निरंतर ब्रह्मचर्य ही में रहा। इन्हीं दिनों राजा दशरथ के मित्र राजा लोमपाद अंगदेश में राज्य करते थे। सुना जाता है, एक बार देश में इन्द्र ने जलवृष्टि न की और इससे प्रजा को बड़ा कष्ट हुआ। हे राजन्! राजा लोमपाद ने बुद्धिमान्, तपस्वी

और समर्थ ब्राह्मणों से वर्षा के विषय में पूछा। उसने कहा—मेरे राज्य में वर्षा कैसे हो? आप लोग मुझे इसका उपाय बतलावें। राजा के ऐसा पूछने पर उनमें से एक ने कहा—हे राजन्! ऋष्यशृङ्ग नामक एक मुनिकुमार हैं। वे वन ही में रहते हैं। वे स्त्रियों से बिलकुल अनजान हैं और उनका सरल स्वभाव है। उन्हें अपने देश में बुला लीजिए। वह महातपस्वी मुनि यदि आपके देश में पधारेंगे तो वर्षा होगी।

हे राजन्! ऐसे वचन सुनकर, अंगराज ने मंत्रणा के कार्य में कुशल मंत्रियों को बुलाकर, ऋष्यशृङ्ग को बुलाने के विषय में विचार किया। अन्त में निश्चय हुआ कि इस कार्य में नीतिकुशल, व्यवहारकुशल एवं शास्त्रवेत्ताओं की आवश्यकता नहीं है। तदनन्तर राजा ने मुख्य मुख्य वाराङ्गनाओं को बुलाया। वे वेश्यायें सब कामों में चतुर थीं। उनसे राजा ने कहा—तुम लोग ऋषिपुत्र ऋष्यशृङ्ग को जैसे बने वैसे लिवा लाओ। चाहे लुभाकर, चाहे विश्वास दिला कर, जैसे हो वैसे उन्हें मेरे राज्य में लिवा लाओ। यह सुन, वेश्यायें राजा के भय और ऋषि के शाप के भय से डर गईं। उनका चेहरा फीका पड़ गया और विह्वल होकर वे कहने लगीं—महाराज! हमारे बूते का यह काम नहीं है। किन्तु उनमें एक बूढ़ी वेश्या थी। वह राजा से बोली—हे राजन्! मैं उन तपस्वी को यहाँ लाने का यत्न करूँगी। किन्तु मैं जो जो सामग्री चाहूँ, वह सब मुझे आप दिलवा दें। यह सुन, राजा ने उसकी माँगी हुई सब सामग्री दिलवा दी। साथ ही उसे बहुत सा धन और रत्न भी दिये। तदनन्तर वह वृद्धा वेश्या कई एक युवती एवं रूपवती वेश्याओं को साथ लेकर ऋष्यशृङ्गाश्रम की ओर चल दी।

लोमश बोले—हे युधिष्ठिर! तदनन्तर उस बूढ़ी वेश्या ने राजा

का काम पूरा करने के लिए, राजा की परवानगी और अपनी बुद्धि से एक नाव के ऊपर एक बड़े रमणीक, मनोमुग्धकारी, अद्भुत एवं दर्शनीय आश्रम की रचना करवाई। उसमें भाँति भाँति के कृत्रिम फलों-फूलों से लदे हुए वृक्ष थे। जब वह आश्रम उस नाव पर बनकर तैयार हो गया, तब वह वेश्या उस नाव पर बैठ, वन को चल दी। वन में जा उसने अपनी नाव आश्रम से कुछ दूर हटकर लगवा दी। जब उस वेश्या ने अपने दूतों द्वारा यह पता लगा लिया कि विभाण्डक मुनि घूमने फिरने गये हैं, तब उसने अपनी बुद्धिमती बेटी को समझा-बुझाकर, उन ऋषि के आश्रम में भेज दिया। उस चतुरा वेश्यापुत्री ने आश्रम में जा नित्य तपनिरत ऋष्यश्रृङ्ग को देखा और उनसे बोली—हे मुने! इस आश्रम में सब तपस्वी कुशल से तो हैं? खाने को फल मूल अच्छी तरह मिल जाते हैं न? क्या आपका आश्रम यही है? मैं आपके दर्शनों की इच्छा से यहाँ आई हूँ। हे ऋष्यश्रृङ्ग! यहाँ तपस्वियों की तपोवृद्धि होती है न? आपके पिता का तेज (उत्तरोत्तर) बढ़ता है न? हे ऋष्यश्रृङ्ग! आप अपने पिता को प्रसन्न तो रखते हैं? और आप स्वयं वेदाध्ययन करते हैं न?

उस के ऐसे वचन सुन ऋष्यश्रृङ्ग बोले कि आप ऋद्धि के कारण तेजपुञ्ज की तरह तेजस्वी जान पड़ते हैं। अतः मैं आपको नमस्कार करने योग्य गिनता हूँ और मैं अपनी इच्छा के अनुसार आपको पाद्य और अर्घ्य दूँगा और धर्मानुसार फल मूल भी दूँगा। कृष्ण मृगचर्म से ढके हुए इस सुखकारी कुशासन पर आप सुख से बैठिए और मुझसे कहिए कि आपका आश्रम कहाँ है? आपका नाम क्या है? हे ब्रह्मन्! आप धन्य हैं जो देवताओं के समान होकर इस ब्रह्मव्रत को धारण किये हुए हैं।

इसके उत्तर में वेश्या ने कहा—हे कश्यपनन्दन! मेरा रमणीक

आश्रम इस तीन योजन चौड़े पहाड़ की उस ओर है। मेरा यह धर्म नहीं कि मैं किसी का प्रणाम लूँ या पाद्य अर्घ्य ग्रहण करूँ। मैं तो आप जैसे पुरुषों को गले लगाता हूँ। यही मेरा व्रत है। अतः मैं आपको आलिङ्गन करूँगा।

उस वेश्या के मधुर और मार्मिक वचनों को सुन ऋष्यशृङ्ग बोले—मैं आपको खाने के लिए भिलावे के, आँवले के, करुष के, इंगुदी के, धन्वन के और पीपल के फल देता हूँ। इनको आप यथेष्ट खा लें।

लोमश जी बोले—हे युधिष्ठिर! उस वेश्या ने ऋष्यशृङ्ग के दिये हुए उन स्वादहीन सब फलों को फेंक दिया और अपने अति स्वादिष्ट और देखने में सुन्दर फल ऋष्यशृङ्ग को भेंट किये। वे फल ऋष्यशृङ्ग को बड़े स्वादिष्ट लगे। फिर उस वेश्या ने उस तेजस्वी ऋषि को सुगन्धयुक्त पुष्पों की मालायें दीं, उजले उजले वस्त्र और पीने की बहुत सी वस्तुएँ दीं और आनन्द सहित हँस-हँसकर ऋषि के साथ खेल करने लगी। कभी तो वह फलदार डाली की तरह नव कर गेंद से खेलती और कभी अपना गात्र ऋष्यशृङ्ग के गात्र से मिला उन्हें चिपटा लेती थी। वह सर्ज, अशोक और तिलक आदि की पुष्पित डालियों को तोड़कर, अनेक प्रकार की क्रीड़ायें करती थी। इस प्रकार उस लज्जाहीन वेश्या ने ऋष्यशृङ्ग को लुभाकर अपने वश में कर लिया। जब उसने देखा कि ऋष्यशृङ्ग में मादकता आती जाती है तब वह अग्निहोत्र का बहाना कर और उनके मुख की ओर देखती हुई धीरे धीरे वहाँ से चल दी। जब वह वेश्या अपने स्थान को चली गई तब ऋष्यशृङ्ग कामदेव से सन्तप्त हो मत्त और अचेत से हो गये। वे उस सूने आश्रम में अकेले बैठे बैठे उस वेश्या ही का ध्यान करने लगे और उसासें ले विकल होने लगे। इस घटना के दो ही घड़ी बाद सिंह जैसी पीली आँखोंवाले

तथा नखों तक रोमों से युक्त शरीरवाले, स्वाध्याय-निरत एवं समाधि लगानेवाले कश्यप के पुत्र विभाण्डक मुनि आश्रम में आये। उन्होंने देखा कि उनका पुत्र ऋष्यशृङ्ग उदास है और अकेला बैठा हुआ ऊपर को देख देख उसासें ले रहा है। उसका मन विपरीत भाव से दूषित हो गया है। विभाण्डक मुनि उसकी ऐसी दुर्दशा देख कहने लगे कि हे तात! तू आज सायंकाल के होम के लिए समिधायें लाया है कि नहीं? क्या तू आज अग्निहोत्र कर चुका? यह श्रुवा और स्रुक क्यों नहीं धोये? गौ का दूध क्यों नहीं दुहा? हे वत्स! तू जैसा पहले आनन्दित देख पड़ता था, वैसा आज नहीं देख पड़ता? प्रत्युत तू चिन्तातुर, चेतनारहित और बहुत उदास जान पड़ता है। अतः बतला, आज आश्रम में कौन आया था?

ऋष्यशृङ्ग ने उत्तर दिया—महाराज! आज यहाँ एक जटाधारी ब्रह्मचारी आया था। वह न तो बहुत लंबा था और न ठिंगना। उसके शरीर का रंग सुवर्ण की तरह था। नेत्र कमल जैसे बड़े बड़े थे और सुन्दरता में वह देवोपम था। वह बड़ा रूपवान् और सूर्य की तरह कान्तिमान था। उसके नेत्र स्नेह से भरे और काले थे। उसका शरीर गोरा और उसकी जटा चिकनी, सुगन्धित थी तथा सुनहली गेरी से गुथी हुई थी। आकाश में जैसे बिजली चमकती है, वैसे ही उसके गले में सुवर्ण-भूषण शोभित थे। कण्ठ के नीचे हृदय के ऊपर दो मांसपिंड थे जो गोल और रोमरहित थे और बड़े अच्छे जान पड़ते थे। उसकी कमर पतली थी। उसके वस्त्रों में से उसकी मेखला (अथवा करधनी) सुनहली और चमकदार देख पड़ती थी।

जब वह योगी चलता था तब उसके दोनों चरणों के आभूषणों से ऐसी अद्‌भुत झनकार होती कि सुनते ही बन आती थी। मेरी इस रुद्राक्ष की माला की तरह उसके दोनों हाथों में भी बजते हुए सुवर्ण-

कङ्कण थे। जिस प्रकार मदमत्त हंस सरोवर में शब्द करता है, उसी प्रकार जब वह चलता था तब उसके कङ्कण खनखनाहट का शब्द करते थे। उसके वस्त्र भी बड़े अद्भुत और बड़े सुन्दर थे। उस जैसे सुन्दर वस्त्र मेरे नहीं हैं। उसका मुख बड़ा सुन्दर था। उसकी बातचीत से मेरा मन हर्षित होता था और उसकी वाणी हंस और कोकिल की तरह मधुर थी। मुझे जब उसका स्मरण हो आता है तब मेरा मन बेचैन हो जाता है। हे पिता! उस महात्मा के शरीर में ऐसी सुगन्ध आती थी जैसी वैशाख मास में वायु के चलने से वन में आती है। उसकी जटायें इकट्ठी की हुई ललाट पर से इधर-उधर दो भागों में विभक्त की हुई देख पड़ती थीं। विचित्र ढंग के अत्यन्त सुन्दर चक्रवाकों की तरह आभूषणों से उसके दोनों कान बहुत अच्छे लगते थे। उसके हाथ में फल की तरह गोल एक वस्तु थी। जिसे वह दाहिने हाथ से फेंक कर उछालता था। वह बार बार पृथिवी पर गिर ऊपर को उछलती थी। जैसे वायु से वृक्ष हिलता है, वैसे ही वह फल विशेष रूप से हिलता हुआ गिर कर और पृथिवी पर आघात कर, फिर ऊपर ही को चला जाता था। हे पिता! उस देवोपम ब्रह्मचारी को देख मेरे मन में उसके प्रति परम प्रेम और अनुराग उत्पन्न हो गया है। इसके अतिरिक्त उस ब्रह्मचारी ने मेरे शरीर को पकड़ मुझे भली भाँति अपने हृदय से लगाया। फिर मेरी जटा पकड़ मेरे मुख को नवा लिया और मुँह से मुँह मिला जो शब्द किया उससे मेरे मन में अत्यन्त हर्ष हुआ था। मैंने उसे पाद्य और फल देने चाहे, किन्तु उसने उनको न लिया, और कहा—मेरा यह व्रत है कि मैं दूसरे का दिया हुआ पाद्य नहीं लेता। प्रत्युत उसने अपने पास से मुझे फल दिये। वे फल मेरे फलों की अपेक्षा रस और स्वाद में बहुत अच्छे थे। मेरे फलों की तरह उसके फलों में न तो छिलके थे और न गूदा। उस

और तुमसे पूछें तब तुम लोग हाथ जोड़कर उनसे निवेदन करना कि ये सब पशु और खेत आपके पुत्र के हैं और हे महर्षि ! हम सब लोग आपके आज्ञाकारी दास हैं। कहिए, हम लोग आपकी प्रसन्नता के लिए कौन सा कार्य करें ?

इस प्रकार सिखाकर राजा ने शूरवीर पशुपालों को रास्ते पर खड़ा कर दिया। उधर विभाण्डक मुनि जब वन से फल ले अपने आश्रम में आये और वहाँ ढूँढ़ने पर भी अपने पुत्र को नहीं पाया तब वे महाक्रुद्ध हुए। मारे क्रोध के उनका शरीर काँपने लगा। उनके मन में शंका उत्पन्न हुई कि यह सब करतूत अंगराज की है। अतः अंगराज को उसके राज्य-सहित भस्म करने की इच्छा से वे चम्पा नगरी की ओर रवाना हो गये। राह में भूख-प्यास और थकावट के कारण एक सम्पत्तिशाली गाँव में पहुँचे। गाँववालों ने उनकी बड़ी आवभगत की और उस रात को वे वहाँ राजा की तरह आनन्द से रहे।

विभाण्डक ऋषि ने गाँववाले ग्वालों से अत्यन्त सत्कार पाकर उनसे पूछा कि तुम किसके सराहनीय ग्वाले हो ? तब वे सब ग्वाले उनसे विनयपूर्वक बोले—महाराज ! राजा का दिया हुआ यह समस्त धन आपके पुत्र का है। इस प्रकार गाँव गाँव में सत्कार [illegible] वचन सुनने से विभाण्डक ऋषि का क्रोध शान्त [illegible] रजोगुण बढ़ गया था वह भी कम हो [illegible] पहुँचे और अंगराज के निकट [illegible] किया। इस प्रकार [illegible] में इन्द्र [illegible] न्ता

गया है।
कहानियाँ आज
में राजा उदयन की क
का रत्नाकर है। सम्राट्
की कथाओं का क्षेत्र केवल साहित्य
वरन् जनश्रुतियों तक में परिणत होकर
का एक गौरवपूर्ण अंग बन गया है। महाराज
की जीवन-गाथाओं और उनके युद्धों के वर्णनों में
बिखरे पड़े हैं, उनके आधार पर रची हुई ऐसी नाना

का क्रोध शान्त हो गया। उन्होंने राजा को कृपाभरी दृष्टि से देखा। सूर्य और अग्नि की तरह प्रतापी महर्षि विभाण्डक मुनि ने अपने पुत्र को अंगदेश ही में रखा और उनसे कहा—अभी तुम महाराज के पास रहकर इनका प्रिय करो। फिर जब तुम्हारे एक पुत्र हो जाय, तब तुम वन में चले आना।

मुनि ऋष्यशृङ्ग के जब एक पुत्र हो गया तब वे अपने पिता के आश्रम में चले गये। और हे राजन्! सब प्रकार से पति की अनुगामिनी शान्ता देवी वन में जाकर ऋष्यशृङ्ग की वैसे ही सेवा करने लगी जैसे रोहिणी चन्द्रमा की सेवा करती है।

हे राजन्! सौभाग्यवती अरुन्धती जिस प्रकार वशिष्ठ की सेवा करती थी, लोपामुद्रा जैसे अगस्त्य की सेवा करती थी, दमयन्ती जैसे नल की सेवा करती थी, एवं नारायणी इन्द्राणी जैसे मुद्गल के कहने में सदा रहती थी, वैसे ही शान्ता भी प्रेमवश, वनवासी ऋष्यशृङ्ग की सेवा करने में तत्पर रहती थी।

——

अतीत कथा

[जातक से]

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रम्हदत्त के राज्य करने के समय बोधिसत्व उसके अर्थ-धर्मानुशासक सर्वार्थ-अमात्य थे। राज्य के कुछ दूरस्थ प्रजा के विद्रोह करने पर प्रत्यन्त के योद्धाओं ने सन्देशा भेजा।

राजा वर्षा-ऋतु में निकला। उसका पड़ाव उद्यान में लगा। बोधिसत्व राजा के पास खड़े थे। उस समय घोड़ों के लिए भीगे मटर

लाकर द्रोणियों में डाल रहे थे। उद्यान के बन्दरों में से एक बन्दर वृक्ष से उतरा। उसने वहाँ से मटर लिये, मुँह भरा, हाथ भी भरे, और कूदकर वृक्ष पर चढ़ खाना शुरू किया।

खाते समय उसके हाथ से एक मटर भूमि पर गिर पड़ा। वह हाथ में और मुँह में जितने मटर थे, उन्हें छोड़ और वृक्ष से उतर उस मटर को ढूँढ़ने लगा। जब उसे वह मटर नहीं दिखाई दिया तो वह फिर वृक्ष पर चढ़ा और वहाँ जुए में हजार हार गये की तरह चिन्ता करता हुआ, रोनी सी सूरत बना वृक्ष की शाखा पर बैठ गया।

राजा ने बन्दर की करतूत देख बोधिसत्व को सम्बोधन कर पूछा—मित्र! बन्दर ने यह क्या किया? बोधिसत्व ने कहा, महाराज! बहुत की ओर ध्यान न दे थोड़े की ओर ध्यान देनेवाले दुर्बुद्धि मूर्ख जन ऐसा करते ही हैं। इतना कह पहली गाथा कही।

राजन यह वृक्षों की शाखाओं पर घूमनेवाला बन्दर मूर्ख है। इसे प्रज्ञा नहीं है। यह मटर की सारी मुट्ठी को बिखेरकर गिरे हुए एक मटर को खोजता है। ऐसा कहकर बोधिसत्व ने राजा को सम्बोधन कर दूसरी गाथा कही। इसी प्रकार हे राजन हम और दूसरे अत्यन्त लोभी लोग थोड़े के लिए बहुत की हानि कर देते हैं; जैसे बन्दर ने एक मटर के लिए।

राजा उसकी बात सुन वहीं से लौटकर वाराणसी नगर में वापस चला गया। विद्रोहियों ने सुना कि राजा उनको दबाने के लिए नगर से निकल पड़ा है, वे भाग गये। वर्तमान समय में भी चोरों ने जब यह सुना कि कोशलराज निकल पड़ा है, वह भाग गये।

राजा ने शास्ता का धर्मोपदेश सुना। फिर आसन से उठे, प्रणाम और प्रदक्षिणा कर श्रावस्ती को चले गए।

———

कनकरेखा

[कथा सरित्सागर से]

पूर्व समय में वर्धमानपुर में परोपकारी नाम का एक राजा था। उसकी कनकप्रभा नाम की रानी थी। समय पाकर रानी से कनकरेखा नाम की कन्या हुई। जब वह बड़ी हुई तब राजा को उसके विवाह की चिन्ता हुई। एक दिन राजा ने रानी से भी उसके वर के विषय में बातचीत की। रानी ने हँसकर कहा कि आप तो वर की चिन्ता में हैं और कनकरेखा ब्याह करना नहीं चाहती। यह सुनकर राजा ने कन्या से पूछा। उसने उत्तर दिया कि मुझे ब्याह की ज़रूरत नहीं है; अगर करूँगी तो ऐसे ब्राह्मण या क्षत्रिय के साथ करूँगी जिसने कनकपुरी देखी हो। यह सुन राजा ने उसका कहना स्वीकार कर लिया और शहर में ढिंढोरा पिटवा दिया कि जिस ब्राह्मण या क्षत्रिय ने कनकपुरी देखी हो, वह दरबार में हाज़िर हो—वह युवराज बनाया जायगा और उसी के साथ राजकुमारी का ब्याह होगा। इस ढिंढोरे को सुनकर लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि किसी ने कनकपुरी का नाम तक नहीं सुना था। वहाँ के जुआरी शक्तिदेव ब्राह्मण ने सोचा कि मैं झूठ ही कह दूँ कि मैंने कनकपुरी देखी है; बात बन जायगी तो अच्छा है ही और बिगड़ जायगी तो कोई हानि नहीं। यह सोचकर वह दरबार में गया। राजा ने उसे कनकरेखा के पास भेज दिया। कनकरेखा ने उससे कई प्रश्न पूछे किन्तु जब उसने उनके अटकल-पच्चू उत्तर दिये तो उसको बाहर निकलवा दिया। उसके चले जाने पर कनकरेखा ने राजा से कहा कि संसार में धूर्त्त-गण धोखा देकर लोगों को ठगा करते हैं। इसी तरह यह भी धोखा देने आया था। इस विषय पर मैं एक कथा कहती हूँ—

रक्तपुर में शिव और माधव दो धूर्त्त रहते थे। उन्होंने अपना दल बनाकर वहाँ के सब मालदार आदमियों को ख़ूब ठगा। फिर उन्होंने उज्जैन जाने का विचार किया, क्योंकि वहाँ राजा का पुरोहित शंकर स्वामी बड़ा धनी था और उसकी एक कन्या भी थी। यह विचार कर वे दोनों उज्जैन पहुँचे। माधव ने तो राजा बनकर बड़े ठाट-बाट से नगर के बाहर डेरा डाल दिया और शिव ब्रह्मचारी बनकर सिप्रा नदी के किनारे एक मठ में रहने लगा और लोगों को दिखाने के लिए संध्या, स्नान, तर्पण आदि करने लगा। कुछ दिनों में वह ऐसा प्रसिद्ध हो गया कि नगर के सब लोग उसे मानने लगे। एक दिन माधव शहर में आया। सिप्रा नदी में नहाकर और शिव के पास जाकर उसने दण्डवत् की और सब लोगों को सुनाकर कहा—यह ब्रह्मचारी बड़ा सिद्ध है; इसे मैंने बहुत से तीर्थों में घूमता देखा है। इसके बाद वह अपने डेरे में आगया। सवेरे उसने अपने अरदली के हाथ दो वस्त्र भेंट के लिए भेजकर शंकर स्वामी को कहला भेजा कि माधव राजकुमार अपने देश से यहाँ आया है और आपके राजा की सेवा किया चाहता है, तथा इसी लिए ये दो वस्त्र भेंट के लिए भेजे हैं। अरदली ने शंकर स्वामी के पास पहुँचकर सँदेशा सुना दिया और शंकर स्वामी ने लोभ से विश्वास कर लिया। दूसरे दिन माधव बड़े ठाट से शंकर स्वामी से जाकर मिला और कहने लगा कि धन तो मेरे पास बहुत है, पर मैं कुटुम्ब के अनुरोध से आजीविका चाहता हूँ। शंकर स्वामी ने उसे राजा से मिलाकर उसकी जीविका लगवा दी और धन के लोभ से उसे अपने ही घर ठहरा लिया। माधव ने नकली जवाहरात के गहनों का एक संदूक शंकर स्वामी के पास रख दिया। इसके बाद माधव ने अपना आहार घटा कर झूठ मूठ अपने को रोगी बना लिया और शंकर स्वामी से कहा कि कोई अच्छा ब्राह्मण बुलाइए जिससे मैं अपने सब

रत्नों का दान कर दूँ; मुझे विश्वास है कि इससे मैं अच्छा हो जाऊँगा। यह सुन शंकर स्वामी ने कई ब्राह्मण बुलाये। पर, उसने सबको नापसंद किया। फिर शंकर स्वामी शिव को स्वयं बुलाकर लाये पर वह किसी तरह भी इतना बड़ा दान लेने को राज़ी नहीं हुआ और कहने लगा कि दान तो ख़ैर मैं आपके कहने से ले भी लेता, पर गृहस्थी सँभालने के लिए कन्या मुझे कौन देगा। फिर शंकर स्वामी ने पहले अपनी कन्या का विवाह उसके साथ कर दिया और फिर तीसरे दिन उसे माधव के पास दान के लिए पेश किया। तब माधव ने शंकर स्वामी से जवाहरात का अपना संदूक़ माँग कर शिव को सब अमूल्य गहने दान कर दिये। शिव ने उसे शंकर स्वामी के पास ही रख दिया और उन्होंने भी प्रसन्नता-पूर्वक रख लिया। इसके बाद शिव अपनी स्त्री के पास चला आया और शंकर ने सब जवाहरात अपने ख़ज़ाने में रख दिये। अब माधव मोटा-ताज़ा होने लगा। कुछ दिन बाद शिव ने ससुर से कहा कि मैं आपके सिर कब तक रोटी तोड़ूंगा, इससे आप जवाहरात ले लीजिए और उसका मूल्य दे दीजिए। उन्होंने उसके बदले में हर्ष-पूर्वक अपना सर्वस्व दे दिया और आपस में पक्की लिखा-पढ़ी कर ली। शिव अलग रहने लगा तथा शिव और माधव ख़ूब मौज उड़ाने लगे। कुछ समय के बाद शंकर स्वामी रत्नों और भूषणों को बाज़ार में बेचने ले गये। उन्हें देखकर जौहरियों ने कहा कि ये सब नक़ली हैं। तब पोल खुली, और उनके होश उड़ गये। उन्होंने आकर शिव से कहा कि तुम अपने जवाहरात ले लो और मेरा धन वापस कर दो। उसने कहा—धन तो सब ख़र्च हो गया। तदनन्तर दोनों ने राजा के यहाँ जाकर सब हाल कहा। वहाँ माधव भी बैठा था। शिव ने कहा कि मुझे तो ये माधव ने दान में दिये थे और शंकर स्वामी ने सहर्ष इन्हें लिया था।

राजा ने माधव से पूछा तो उसने कहा कि मेरे बाप का धन कहीं धरोहर रक्खा था और उसे लेकर मैं यहाँ चला आया था। यदि ये सचमुच नक़ली हैं तो मुझे नक़ली रत्न दान करने का फल मिलेगा। यह सुन राजा ने हँसकर कहा कि पुरोहितजी, इनका कोई दोष नहीं है। फिर शंकर स्वामी घर गये और वे दोनों धूर्त्त सुख-पूर्वक वहीं रहने लगे। इस तरह के बहुत से धूर्त्त संसार में हैं। इसी प्रकार यह ब्राह्मण धोखा देने आया था। ऐसी दशा में आप मेरे विवाह की जल्दी मत कीजिए। राजा ने कहा कि जवान लड़की का पिता के यहाँ रहना उचित नहीं है, क्योंकि दुष्ट मनुष्य अच्छे चरित्र में भी कलंक लगा देते हैं। इस विषय पर मैं एक कहानी कहता हूँ—

गंगाकिनारे कुसुमपुर नगर है। वहाँ एक कुटी में हरस्वामी ब्राह्मण रहता था। वह भीख माँगकर अपनी गुज़र करता था। एक दिन वह भीख माँगने नगर में गया। वहाँ एक दुष्ट ने कहा कि यह कैसा कपटी तपस्वी है! इसने नगर के सब बालक खा डाले हैं। दूसरे दुष्ट ने कहा—तुम ठीक कहते हो, मैंने भी सुना है। तब तीसरा दुष्ट बोला कि हाँ, ठीक बात है। धीरे धीरे यह बात शहर भर में फैल गई और उसके डर से लोगों ने बालकों को घर में बंद कर दिया। इसके बाद सबने उसे शहर से बाहर निकालने की सलाह की और दूत भेजे। उन्होंने डर के मारे दूर से ही कहा कि आप इस नगर को छोड़ जाइए, क्योंकि आपने इसके सब बालक खा लिये हैं। यह सुनकर हरस्वामी स्वयं आया। उसे देखकर सब लोग डर के मारे छतों पर चढ़ गये। तब वह नीचे से चिल्लाया कि बतलाओ मैंने कौन कौन-से बालक खाये हैं? अब जो सबने ध्यान से देखा तो सबके बालक ठीक पाये गये। वृथा दोष लगाने के लिए सबको बड़ा पछतावा हुआ। इसके बाद हरस्वामी उस नगर से जाने लगा। तब

सबने बड़ी ख़ुशामद करके उसे रक्खा। इस तरह दुर्जन सदाचारियों को भी कलंक लगा देते हैं। तुम्हें इस अवस्था में विवाह करके पति के साथ रहना चाहिए। इसके बाद राजा ने रोज ढिंढोरा पीटने की आज्ञा दे दी। पर, कनकपुरी देखनेवाला कोई नहीं आया।

वीरवर की स्वामिभक्ति

[कथा सरित्सागर से]

एक बार नरवाहनदत्त के पास एक प्रलम्बबाहु नाम का ब्राह्मण युवक आया और बोला कि हे राजा, आपकी कीर्ति सुनकर आपके पास आया हूँ; हाथी, घोड़े तथा रथ आदि वाहनों पर पृथ्वी में तथा आकाश में चलते हुए आपके साथ पैदल ही चलकर मैं आपको एक क्षण भी नहीं छोड़ूँगा और सौ अशर्फ़ी रोज़ मेरा वेतन होगा। यह सुनकर राजा ने उसे उतने ही वेतन पर रख लिया। तब गोमुख ने कहा, कि हे युवराज, इस प्रकार के भी सेवक बहुधा होते हैं। इस बात पर मैं आपको एक कथा सुनाता हूँ। विक्रमपुर में विक्रमतुङ्ग नाम का एक राजा था। वह बड़ा धर्मात्मा, न्यायशील और विचारवान् था। उसके पास मालवा देश का वीरवर नामक शूरवीर ब्राह्मण सेवा के लिए आया। उसके साथ उसकी स्त्री धर्मवती, कन्या वीरवती और पुत्र सत्यवर थे और उसने राजा से पाँच सौ अशर्फ़ी रोज़ का वेतन माँगा। राजा ने उतने ही वेतन पर उसे रख लिया और गुप्त दूतों से कह दिया कि देखो यह उतने वेतन का क्या करता है? वीर-

वर प्रतिदिन उन अशर्फ़ियों में से सौ अशर्फ़ी अपनी स्त्री को भोजनादि को देता था। सौ अशर्फ़ियों से वस्त्र आभूषण लेता था। सौ भगवान् तथा शिवजी के पूजन में ख़र्च करता था और बाक़ी का ब्राह्मणों को दान कर देता था। अपनी नित्यक्रिया के और भोजन के समय को छोड़कर वह हथियार बाँध कर सदा राज-द्वार पर ही हाज़िर रहता था। एक दिन जब रात्रि में घोर वर्षा हो रही थी, राजा ने अपने महल से दूर किसी स्त्री के रोने की आवाज़ सुनी। तब उसने वीरवर को पुकारकर कहा कि कोई स्त्री रो रही है, तुम उसके पास जाओ और देखो कि वह कौन है? आज्ञा पाते ही वीरवर उसी घनघोर रात्रि में चल निकला; राजा भी उसके पीछे पीछे छिपकर गया। वीरवर ने वहाँ जाकर रोती हुई स्त्री से पूछा कि तुम क्यों रो रही हो? तव वह स्त्री बोली कि हे वीरवर, मैं पृथ्वी हूँ; मेरा स्वामी विक्रमतुङ्ग आज से तीसरे दिन मर जायगा; मुझे फिर ऐसा स्वामी नहीं मिलेगा; इसलिए मैं सोचकर रही हूँ। मैं भविष्य को जान लेती हूँ। यह सुनकर वीरवर ने पूछा कि हे माता, क्या राजा के बचने का कोई उपाय भी है? यह सुन वह स्त्री बोली कि उपाय तो यह है कि राज-मन्दिर के सामने चडिका देवी के आगे तुम अपने पुत्र सत्यवर की भेंट चढ़ाओ। यह सुनकर वीरवर बोला कि मैं अभी जाकर सत्यवर को देवी की भेंट करता हूँ; यदि मेरे प्राण, स्त्री, पुत्र से राजा की रक्षा हो तो मैं धन्य हूँ, यह सुनकर पृथ्वी अन्तर्धान हो गई। तब वीरवर घर चला और राजा भी सब सुनकर उसके पीछे चला। वीरवर ने अपनी स्त्री और पुत्र को जगाकर सब वृत्तान्त कहा। उन्होंने स्वामी का हित समझकर, ख़ुशी से उसका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। तत्पश्चात् वीरवर अपने पुत्र को देवी के सामने ले जाकर बोला कि इस सत्यवर की बलि से प्रसन्न होकर

हमारे स्वामी को दीर्घायु करो। यह कहकर खड्ग से अपने पुत्र का सिर काटकर उसने देवी को चढ़ा दिया। अपने भाई को मरा देखकर उसकी कन्या ने भी प्राण त्याग दिये। यह देखकर वीरवर की स्त्री ने कहा कि इन दोनों को लेकर मैं भी चिता में भस्म हो जाऊँगी। यह सुनकर वीरवर ने शीघ्र चिता बनाकर उसमें अपने कुटुम्ब को रखकर आग लगा दी। पीछे वीरवर सोचने लगा कि स्वामी का काम तो हो ही गया, मुझे भी कुटुम्बहीन हो जीकर क्या करना है; जिनके लिए सेवा करना अच्छा मालूम होता था वे तो सब मर ही गये हैं। यह सोचकर और देवी की स्तुति करके उसने कहा कि हे देवि, मेरे शरीर का बलिदान लेकर स्वामी राजा का कल्याण करो। यह कहकर जैसे ही उसने अपना सिर काटना चाहा वैसे ही यह आकाशवाणी हुई कि हे पुत्र, मैं तुम्हारी हिम्मत से प्रसन्न हूँ; अब साहस मत करो; जो चाहो सो वर माँगो। यह सुनकर वीरवर बोला कि यदि आप मेरे ऊपर प्रसन्न हैं, तो राजा विक्रमतुङ्ग सौ वर्ष अधिक जिये और मेरा कुटुम्ब जी उठे। तब "एवमस्तु" शब्द मन्दिर से सुनाई दिया और धर्मवती, वीरवती तथा सत्यवर तीनों जी उठे। वीरवर ने प्रसन्न होकर उन सबको घर पहुँचा दिया और स्वयं अपने काम पर हाज़िर होगया। राजा भी यह देखकर चकित होगया और महल पर चढ़कर बोला कि फाटक पर कौन है ? वीरवर बोला कि मैं हूँ। मैं उस स्त्री के पास गया तो वह मुझे देखकर अन्तर्धान होगई। उसके ये वचन सुनकर राजा सोचने लगा कि यह कोई अपूर्व पुरुष है जो ऐसे अपूर्व कार्य करने पर भी अपने मुख से नहीं कहता। इसने अपने कुटुम्ब का नाश करके मेरे प्राण बचाये, अब मैं इसके साथ क्या प्रत्युपकार करूँ ? यह सोचकर राजा ने सवेरे सभा में वीरवर का वृत्तान्त कहा और उसे

सम्पत्ति देकर राजा बना दिया। वीरवर उस ऐश्वर्य को पाकर सकुटुम्ब सुखपूर्वक रहने लगा। यह कथा कहकर गोमुख बोला कि पुण्य के प्रभाव से कोई कोई ऐसे सेवक मिलते हैं। यह प्रलम्बबाहु ब्राह्मण भी वैसा ही मालूम होता है।

साधुवैश्य का उपाख्यान

[सत्यनारायण व्रत की एक कथा से कुछ संक्षिप्त करके]

सूत जी बोले—'हे श्रेष्ठ मुनियो! मैं आगे की कथा कह रहा हूँ, तुम लोग सुनो! पहले समय में एक राजा अपनी रानी को साथ लेकर भद्रशीला नामक नदी के तट पर सत्यनारायण का व्रत कर रहा था। उसी समय एक वैश्य व्यापार के लिए वहाँ आया। किनारे पर नाव को खड़ी कर राजा के समीप गया, और व्रत करते हुए राजा को देखकर विनय-पूर्वक बोला—'हे राजन्, भक्ति-भाव और प्रसन्नता से आप यह क्या कर रहे हैं?' राजा ने कहा—'मैं अतुल तेजधारी भगवान् विष्णु का पूजन कर रहा हूँ और अपने कुटुम्ब-समेत पुत्र आदि की कामना से इनका व्रत भी।' राजा का वचन सुनकर उसने कहा—'हे राजन्! इसे विस्तारपूर्वक कहिए क्योंकि मेरे भी कोई सन्तान नहीं है और इससे निश्चय होगी ऐसा मालूम पड़ रहा है।' राजा ने व्रत का समस्त विधान वैश्य से कहा। तदनन्तर वह व्यापार

से निवृत्त होकर आनन्दपूर्वक घर आया और अपनी स्त्री लीलावती से संतान-दायक उस व्रत को कहा तथा साथ ही साथ 'जब कोई सन्तान मेरे होगी तो उसी समय व्रत करूँगा,' यह भी कहा। कुछ दिनों बाद सत्यनारायण की कृपा से उसके एक कन्या-रत्न उत्पन्न हुआ। वह कन्या शुक्ल-पक्ष के चन्द्रमा के समान प्रतिदिन बढ़ने लगी, इसी लिए उस कन्या का 'कलावती' नाम रखा गया। तदुपरांत लीलावती ने अपने स्वामी से मधुर वाणी में कहा—'आप पहले के संकल्पित व्रत को क्यों नहीं करते हैं?' उसने कहा—'हे प्रिये! इसके विवाह के समय उस व्रत को करूँगा।' इस प्रकार अपनी स्त्री को आश्वासन देकर उस वैश्य ने व्यापार के लिए शहरों में प्रस्थान किया और इधर पिता के घर में रहकर कलावती कन्या बढ़ने लगी।

जब कलावती वयस्क हो गई तब उसे उसके विवाह की चिंता हुई। तनदन्तर उस धार्मिक वैश्य ने अपने एक नौकर को वर खोजने के लिए बाहर भेजा। उस दूत ने काञ्चनपुरी नामक एक नगरी को प्रस्थान किया। वहाँ से एक वैश्य के लड़के को साथ ले वह आ भी गया; उस सुन्दर एवं गुणी लड़के को देखकर वैश्य ने अत्यन्त प्रसन्न हो उस वैश्य-पुत्र को अपनी पुत्री का विधान-सहित दान दिया।

विवाह-काल में दुर्भाग्यवश उस उत्तम व्रत का स्मरण वैश्य को न हुआ। अतः उसी समय से भगवान् उसके ऊपर क्रुद्ध हो गये। कुछ काल के अनन्तर व्यापार-कुशल उस वैश्य ने अपने जामाता (दामाद) को साथ लेकर व्यापार के लिए प्रस्थान किया। रत्नसार पुरी में जाकर साधु ने नाव ठहरा दी और अपने श्रीमान् जामाता के साथ व्यापार करना आरम्भ किया।

राजा चन्द्रकेतु की रमणीक पुरी में जब वे दोनों गये, उसी

समय सत्यनारायण भगवान् ने उसकी प्रतिज्ञा पालन न करने के कारण उसे शाप दिया कि तुझे महाभीषण दुःख होगा। एक दिन राजा के धन को लेकर दो चोर उसी स्थान पर आये जहाँ वे दोनों वैश्य नाव लिये ठहरे हुए थे। पीछे पीछे दौड़ते हुए राजा के सिपाहियों को देखकर भयभीत होकर चोरों ने चोरी का माल वहीं छोड़ दिया और स्वयं अदृश्य हो गए। तदनन्तर सिपाही लोग जहाँ वैश्य की नाव थी, वहाँ आये और राजा का धन देखकर उन वैश्यों को बाँधकर हर्षित हो दौड़ते हुए राजा के पास आकर बोले—'हे स्वामिन! ये दो चोर पकड़कर लाये गये हैं, इन्हें देखिए और आज्ञा दीजिये।' राजा ने कुछ भी विचार न कर शीघ्र आज्ञा दी कि इन्हें दृढ़ बन्धनों से बाँध कर कारागार में डाल दो। आज्ञा होते ही वे दोनों बंद कर दिये गये। सत्यनारायण की मायावश उन दोनों वैश्यों की बात किसी ने नहीं सुनी और इसी लिए राजा चन्द्रकेतु ने उनके धन-माल को भी ले लिया।

इसी शाप के कारण घर में उन की स्त्रियाँ भी अत्यन्त दुःखी हुईं। घर में जो कुछ धन था, उसे चोरों ने चुरा लिया और शारीरिक तथा मानसिक कष्टों को सहन करती हुई भूख और प्यास से अति दुःखी होने लगीं। अन्न के लिए चिन्तित होकर घर घर भिक्षा भी माँगने लगीं। कलावती प्रतिदिन भिक्षा के लिए जाया करती थी। एक दिन भूख से अति व्याकुल हो वह किसी ब्राह्मण के देवालय में गई और वहाँ देखती है कि सत्यनारायण का व्रत हो रहा है। उसने वहीं बैठकर कथा सुनी और वरदान के लिए प्रार्थना भी की। अन्त में प्रसाद लेकर रात्रि में अपने घर गई। उसकी माता ने कलावती कन्या से प्रेमपूर्वक कहा कि—'हे पुत्री! इतनी रात तक तू कहाँ थी और तेरे मन में क्या है?' कलावती ने

अत्यन्त शीघ्र अपनी माँ को उत्तर दिया कि 'हे माता ! ब्राह्मण के मन्दिर में मनोरथ को सिद्ध करनेवाला मैंने एक व्रत देखा है ।' कन्या की ऐसी बात सुनकर उस वैश्य की स्त्री ने उसी समय तैयार होकर सत्यनारायण के व्रत करने को अपने बन्धुगणों को बुलाया । उस पतिव्रता ने व्रत किया और क्षमा की प्रार्थना की कि मेरे पति जामाता-समेत अतिशीघ्र अपने घर आवें और पति तथा जामाता का अपराध क्षमा हो ! उस व्रत के प्रभाव से सत्यनारायण भगवान् प्रसन्न हुए और राजा चन्द्रकेतु को स्वप्न दिया कि—'हे नृपश्रेष्ठ ! प्रातः-काल होते ही उन दोनों वैश्यों को छोड़ देना और इस समय जो तुमने धन ले लिया है उसे सब दे देना नहीं तो धन और पुत्र-समेत तुम्हारे राज्य को नष्ट कर दूँगा ।' इस प्रकार भगवान् राजा से कहकर अन्तर्ध्यान हो गये । तदनन्तर प्रातःकाल उठकर राजा ने सभा में जाकर कहा कि बँधे हुए उन दोनों महाजनों को छोड़ दो । दूतों ने महाजनों को राजा के सामने लाकर उपस्थित किया । दोनों वैश्यों को देखकर राजा सादर बोले—'दैवयोग से इस महान् दुःख को तुम्हें भोगना पड़ा । अब तुम्हें कुछ भी भय नहीं है ।' हथकड़ी आदि निकलने पर राजा ने उन लोगों का क्षौर कराया और वस्त्र तथा आभूषण दिलाकर संतुष्ट कर सम्मानपूर्वक वाणी-द्वारा उन्हें अत्यधिक संतुष्ट किया । पहले के लिये हुए धन को दूना करके लौटा दिया । फिर उस वैश्य ने अपने जामाता के साथ प्रथम मांगलिक विधान (देव-पूजन) और ब्राह्मणों को धन-दान देकर अपने नगर को प्रस्थान किया ।

साधुवैश्य ने अपने जामाता (दामाद) से कहा कि—'वह देखो मेरी रत्नपुरी दिखाई देती है' ऐसा कहकर अपने धन के मुख्य-रक्षकों में से किसी एक नौकर को घर भी भेज दिया । वह दूत नगर में

पहुँचा और साधु की स्त्री को देखकर हाथ जोड़ नमस्कार करके कहने लगा कि—'अपने जामाता और बन्धुगण एवं अत्यन्त धन-समेत साधुवैश्य नगर के समीप आ गये हैं।' वह पतिव्रता दूत के मुख से ऐसी बात सुनकर बहुत प्रसन्न हुई और सत्यदेव की पूजा करके अपनी पुत्री से कहा कि—'मैं साधुवैश्य के दर्शन के लिए चल रही हूँ तू भी शीघ्र आ।' माता की ऐसी बात सुनकर उसने भी व्रत समाप्त किया और प्रसाद लेकर वहाँ आकर अपने पति को प्राप्त किया। तदनन्तर कलावती कन्या अपने पिता से कहने लगी कि—'इस समय घर चलो। विलम्ब क्यों कर रहे हो?' कन्या की बात सुनकर वैश्य बहुत प्रसन्न हुआ और अपने बन्धुगणों समेत सत्यदेव का पूजन विधान-सहित करके तब अपने घर पर गया। इसी प्रकार प्रत्येक पूर्णिमा तथा संक्रान्ति के दिन सत्यनारायण भगवान् का पूजन करता रहा।

रानी केतकी की कहानी

[सैय्यद इंशाअल्ला खाँ]

सिर झुकाकर नाक रगड़ता हूँ उस अपने बनानेवाले के सामने जिसने हम सब को बनाया है और बात की बात में वह कर दिखाया जिसका भेद किसी ने न पाया। आतियाँ जातियाँ[1] जो साँसें

---

१ आने जाने वाली।

हैं—उसके बिन ध्यान यह सब फाँसें हैं। यह कल का पुतला जो अपने उस खिलाड़ी की सुध रखे तो खटाई में क्यों पड़े और कड़वा कसैला क्यों हो? उस फल की मिठाई चक्खे जो बड़ों से बड़े अगलों ने चक्खी है। देखने को तो आँखें दीं और सुनने को यह कान दिये, नाक भी ऊँची सब में कर दी। मरतों को जी दान दिये। मिट्टी के बासन को इतनी सकत कहाँ जो अपने कुम्हार के करतब कुछ ताड़ सके? सच है, जो बना हो सो अपने बनानेवाले को क्या सराहे और क्या कहे, यों जिसका जी चाहे पड़ा बके। सिर से लगा पाँव तक जितने रोंगटे हैं, जो सब के सब बोल उठें और सराहा करें और इतने बरस इसी ध्यान में रहें जितनी सारी नदियों में रेत और फूल फलियाँ खेत में हैं, तो भी न हो सके, कराहा करें।

अब यहाँ से लिखनेवाला यों लिखता है कि एक दिन बैठे बैठे यह बात अपने ध्यान चढ़ी, कोई कहानी ऐसी कहिये जिसमें हिन्दवी छुट और किसी बोली की पुट न मिले। तब जा के मेरा जी फूल की कली के रूप खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच न हो। अपने मिलनेवालों में से एक कोई पढ़े-लिखे पुराने धुराने डाग बड़े घाग यह खटराक लाये, सिर हिलाकर मुँह ठिठियाकर, नाक भौं चढ़ाकर, आँखें पथराकर लगे कहने, यह बात होती दिखाई नहीं देती। हिन्दवीपन भी न निकले और भाखापन भी न ठुँस जाय। जैसे भले लोग अच्छे से अच्छे आपस में बोलते चालते हैं, ज्यों का त्यों वही सब डौल रहे और छाँह किसी की न पड़े। यह नहीं होने का। मैंने इनकी ठंडी साँस को फाँस का टहोका खाकर झुँझलाकर कहा—मैं कुछ ऐसा बड़बोला नहीं जो राई को पर्वत कर दिखाऊँ और झूठ-सच बोल के उँगलियाँ नचाऊँ और बेसुरी बेठिकाने की उलझी सुलझी तान ले जाऊँ। जो मुझसे न हो सकता तो भला

यह बात मुँह से क्यों निकालता। जिस ढब से होता इस बखेड़े को टालता।

अब इस कहानी का कहनेवाला यहाँ आपको यह जताता और जैसा कुछ लोग उसे पुकारते हैं, सुनाता है। दहना हाथ मुँह पर फेर आपको जताता हूँ, जो मेरे दाता ने चाहा तो वह ताव भाव और राव चाव[1] और कूद फाँद और लपट झपट दिखाऊँ जो देखते ही आपके ध्यान का घोड़ा जो बिजली से भी बहुत चंचल चपलाहट में है, हिरन के रूप में अपनी चौकड़ी भूल जाय।

चौतुका

घोड़े प' अपने चढ़ के जो आता हूँ मैं,
करतब है सो सब दिखाता हूँ मैं।
उस चाहनेवाले ने जो चाहा तो अभी,
कहता जो कुछ हूँ कर दिखाता हूँ मैं।

जगतप्रकाश अपने गुरु को जो कैलाश पहाड़ पर रहता था, यों लेख भेजता है—कुछ हमारी सहाय कीजिये। महा कठिन हम विपता मारों को पड़ी है। राजा सूरजभान को अब यहाँ तक बावझक ने लिया है, जो उन्होंने हमसे महाराजों से नाते का डौल किया है। कैलाश पहाड़ का एक डाल चाँदी का है, उस पर राजा जगतप्रकाश का गुरु जिसको बन्दर लोक के लोग सब महिन्दर गिर कहते थे, ध्यान ज्ञान में कोई नब्बे लाख अतीतों[2] के साथ ठाकुर के भजन में दिनरात रहा करता था। सोना, रूपा, ताँबे, राँगे का बनाना तो क्या, और गुटका मुँह में लेके उड़ना बरे रहे, उसकी और और बातें इस ढब की ध्यान में

१ रङ्ग ढङ्ग। २ अतिथियों। यहाँ त्यागियों।

थीं जो कुछ कहने और सुनने से बाहर हैं। मेह, सोने और रूपे का बरसा देना और जिस रूप में चाहना हो जाना, सब कुछ उसके आगे एक खेल था। और गाने में और बीन बजाने में महादेव बिन सब उसके आगे अपने कान पकड़ते थे। सरस्वती जिसको हिन्दू कहते हैं आदि शक्ति, उसने उसी से कुछ कुछ गुनगुनाना सीखा था। उसके सामने छः राग छत्तीस रागिनियाँ आठ पहर बाँदियों का सा रूप धारे हुये उसकी सेवा में हाथ जोड़े खड़ी रहती थीं। वहाँ अतीतों को यह कह कर पुकारते थे—भैरोगिर, भास्करगिर, हिण्डोलगिर, मेघनाथ, किदारनाथ, दीपकसेन, जोतीसरूप, सारङ्गरूप। और अतीतने इस ढब से कहलाती हैं—गूजरी, टोड़ी, असावरी, गौरी, मालसिरी, बिलावल। जब चाहता था, अधर में सिंहासन पर बैठ के लदाये फिरता था और नब्बे लाख अतीत गुटके अपने मुँह में लिये गेरुवे वस्त्र पहने हुये, जटा बिखेरे उसके साथ साथ होते थे। जिस घड़ी राजा जगतप्रकाश की चिट्ठी एक बगला ले पहुँचता है, जोगी महिन्दरगिर एक चिंघाड़ मार के दल बादलों को ढुलका देता है। बाघम्बर पर बैठ भभूत अपने मुँह में मल कुछ कुछ पढ़न्त करता हुआ, पवन के घोड़े की पीठ लगा और सब अतीत मृगछालों पर बैठे हुये गुटके मुँह में लिये हुये बोल उठे, 'गोरख जागा'। एक आँख की झपक में वहाँ आ पहुँचता है जहाँ दोनों महाराजों में लड़ाई हो रही थी। पहले तो एक काली आँधी आई, फिर एक बड़ी टिड्डी आई। किसी को अपनी सुध-बुध न रही। हाथी घोड़े और जितने लोग और भीड़ भाड़ राजा सूरजभान की थी, कुछ न समझा गया, किधर गई और इन्हें कौन उठा ले गया। और राजा जगतप्रकाश के लोगों पर और रानी केतकी के लोगों पर केवड़े की बूँदों की नन्हीं नन्हीं फुहार सी पड़ने लगी। जब यह सब कुछ हो चुका तो गुरूजी ने अपने अतीतों से कह दिया—उदयभान,

सूरजभान, लक्ष्मीवास इन तीनों को हिरन हिरनी बना के किसी बन में छोड़ दो और जो इनके साथ हों उन सभों को तोड़ फोड़ दो। जैसा कुछ गुरूजी ने कहा वैसा ही किया। प्रीति का मारा कुँवर उदयभान और उसका बाप वह महाराजा सूरजभान और उसकी माँ वह महारानी लक्ष्मीवास हिरन हिरनी बन, बन बन की हरी घास कई बरस तक चुनते रहे और उस भीड़भाड़ का तो कुछ थल बेड़ा न मिला, जो किधर गई और कहाँ थी।

यहाँ की यहाँ ही रहने दो, आगे सुनो अब रानी केतकी की बात और महाराजा जगतप्रकाश की। इनका घर का घर गुरूजी के पाँवों पर गिरा और सब ने सिर झुकाकर कहा—महाराज! यह आपने बड़ा काम किया। हम सब को रख लिया। जो आप न आ पहुँचते तो क्या रहा था! सब ने मर मिटने की ठान ली थी। राजपाट सब हमारा अब निछावर करके जिसको चाहिये दे डालिये। हम सब को अतीत बनाके अपने साथ लीजिये। राज हमसे नहीं थम सकता। सूरजभान के हाथ से आपने बचाया। अब कोई इनका चचा चन्द्रभान चढ़ आवेगा तो क्योंकर बचना होगा। अपने आप में तो शक्ति नहीं, फिर ऐसे राज का फिरे मुँह, हम कहाँ तक आपको सताया करेंगे। यह सुनकर जोगी महिन्दरगिर ने कहा—तुम सब हमारे बेटे बेटी हो, आनन्द करो, दनदनाओ, सुख-चैन से रहो, ऐसा वह कौन है जो तुम्हें आँख भर कर और ढब से देख सके। यह बाघम्बर और यह भभूत हमने तुम्हें दिया। आगे जो कुछ ऐसी गाढ़ पड़े तो इस बाघम्बर में से एक रोंगटा तोड़कर आग धर के फूँक दीजियो। वह रोंगटा फुँकने न पावेगा, हम आन पहुँचेंगे। रहा भभूत सो इसलिये है, जो कोई चाहे जब इसे अञ्जन करे, वह सब देखे और उसे कोई न देखे। जो चाहे कर ले। धन गुरु महिन्दरगिर जिसके पाँव पूजिये और धन महाराज कहिये।

उनसे तो कुछ छिपाव न था। महाराजा जगतप्रकाश उनको मोरछल करते हुये रानियों के पास ले गये। सोने रूपे के फूल में हीरे मोती गोद भर भर सब ने निछावर किये और माथे रगड़े। इन्होंने सब की पीठें ठोंकीं। रानी केतकी ने भी दण्डवत् की। पर जी ही जी में गुरूजी को बहुत सी गालियाँ दीं। गुरूजी सात दिन सात रातें यहाँ रह के, राजा जगतप्रकाश को सिंहासन पर बैठा के, अपने उस बाघम्बर पर उसी डाल से कैलाश पर आ धमके। राजा जगतप्रकाश अपने अगले ढब से राज करने लगा।

——

नासिकेतोपाख्यान

सदल मिश्र

उनकी इतनी बात सुनि, बीच में बैठ, नासिकेत मुनि कहने लगे कि जितने तुम साधु सन्त हो सो अब सावधान हो सुनो। ऐसी आश्चर्य यह कथा है कि जिसके श्रवण से रोमांच होवें।

धर्मराज के लोक में भाँति भाँति के लोग और वृक्षों से भरी चार सौ कोस लम्बी चौड़ी चार द्वार की यमराज की पुरी है कि जिसमें सदा आप को अनेक गण-गन्धर्व ऋषि वो योगियों के मध्य में धर्म्म का विचार किया करते हैं। तिस पुरी में जिस द्वार से जो प्राणी जाता है सो मैं तुमसे कहता हूँ।

देवता पितर गुरु के भक्त, क्रोध लोभ को जीतनिहारे, दान धर्म में सब दिन जिनकी उत्तम मति रहती है, वे जो जेठ बैशाख में जल दे प्राणियों के प्यास मिटाते, वो जाड़े में वस्त्र दे दुखी जन को पालते हैं, ऐसे जितने लोग हैं, सो तो यहाँ पूर्व द्वार से जाते हैं, वो नाना भोग-विलास करते और जो हरिहर दुर्गा के भक्त अतिथि देवतों को पूजते, तीर्थों में नहाते, अहंकार को जीतते, गौ बचाने को युद्ध करते, ज्ञान के लिये साधुन का संग करते, ऐसे जो महात्मा लोग हैं सो सब उत्तर द्वार से जा परम पद को पहुँच मनभावने सुख को पाते हैं। और धर्म में जिनकी श्रद्धा है, सत्य ही बोलते, सब से सत्य चलते, पराये की हिंसा निन्दा नहीं करते, विष्णु के भक्त, पर द्रव्य को मिट्टी, पर स्त्री को माता समान जानते हैं, ऐसे जो कोई महापुरुष लोग हैं सो सब पश्चिम द्वार से वहाँ पहुँच विमानों पर चढ़ जहाँ इच्छा आवे तहाँ जा, अपनी रुचि से आनंद-विहार किया करते हैं। और जो निर्दयी, पापी, कुटिल, कठोर, क्रूर, विषयी, वेद-पुराण-शास्त्र वो देव पितरों की निन्दा करते हैं, वो गुरु को नहीं मानते, झूठ ही बोलते रहते हैं, ऐसे ऐसे जितने अधम लोग हैं, सो तो महाभयावन दक्षिण द्वार से जाते हैं और दुःख भोगने के लिये धर्मराज की आज्ञा से तुरन्त काली काली बड़ी बड़ी देह पाय यमदूतों के हाथ पड़ मुँगरों के मार से भुरकुस होते, अति अन्धकारमय महा रौरवनाम नरक में डाले जाते हैं कि जिसमें जहाँ देखो तहाँ कीड़े कलबलाते हैं और एक एक बाघ, सिंह, हुँडार, कुत्ते, बिच्छू, साँप, गिद्ध, कौए से भरे हैं कि पापियों को देखते ही सैकड़न आ झुक पड़ते हैं वो झट पकड़ कर आपस में ऐंचा खैंचा किया करते हैं। तिनमें दारुण दुःखदायक बिच्छू डंक मारने लगते हैं, बार बार विषधर डसने को फुफकार करते हैं। लोहे समान चोंचों से गिद्ध और कौए तिस पर ऐसे लगते हैं सताने कि जिस दुःख का कुछ

पारावार नहीं है। हाय! हाय! मरे रे, दौड़ो रे, सदा पुकारते रहते हैं। पर बिना धर्म के कोई उनको बचाना चाहे तो नहीं बचा सकता है।

इस प्रकार से यमपुरी का दक्षिण द्वार अति डरावना है कि जहाँ दूतों के बस होकर पापी लोग ऐसे महानरक में पड़ते वो नाना भाँति के दुःख को सहते हैं।

इससे अधिक कुम्भीपाक आदि सहस्रन नरक एक से एक मैंने देखे कि जिससे बड़े बड़े कीट भरे वो हाहाकार शब्द दूर ही से सुनाता है और वो महादुखदायक असिपत्र एक ऐसा बना है, कि जहाँ खड्ग की धार के समान चोखे गाछों के पत्ते हैं, नीचे तिसके अति दुर्गन्ध कीड़ों से आकुल पीप की नदी बहती है, वो अधमों के तलने के लिये बीच में कहीं कड़ाहों में तेल कड़कड़ाता रहता है। बहुतेरे वो पहाड़ पर से गिराये तो शूली पर चढ़ाये जाते हैं।

यह समाचार वैशम्पायन राजा जनमेजय से कहते हैं—

इस प्रकार से नासिकेतु मुनि यम की पुरी सहित नरक का वर्णन कर फिर जौन जौन कर्म्म किये से वह भोग होता है सो सब ऋषियों को सुनाने लगे कि गौ, ब्राह्मण, माता, पिता, मित्र, बालक, स्त्री, स्वामी, वृद्ध, गुरु इनका जो बध करते हैं वा झूँठ साक्षी भरते, झूँठ ही कर्म में दिन-रात लगे रहते हैं, अपनी भार्या को त्याग दूसरे की स्त्री को ब्याहते, औरों की पीड़ा देख प्रसन्न होते हैं और जो अपने धर्म से हीन हो पाप में गड़े रहते, वो माता-पिता की हित बात को नहीं सुनते, सबसे बैर करते हैं, ऐसे जो पापी जन हैं सो सब महाडरावने दक्षिण द्वार से जा नरक में पड़ते हैं।

इतनी कथा सुनाय फिर नासिकेतु मुनि कहने लगे कि यम की आज्ञा से सब दूत एक किसी को इहाँ से ले गये, वो उनके आगे खड़ा

कर दिया, उसका जो पुन्य पाप का विचार होते मैंने देखा है सो अब कहता हूँ। तुम सावधान हो सुनो।

यमराज की सभा में अपने अपने स्थान पर सुन्दर आसन बिछाये बैठे अत्रि, गौतम, मैत्रेय, बृहस्पति, शुक्र, वेदव्यास, जन्हु, कण्व, भरद्वाज, दधीचि, गोभिल, दुर्वासा, मरीचि, भृगु, गालव, सनत्कुमार, पुलह, पुलस्त्य, क्रतु, याज्ञवल्क्य, विश्वामित्र, मार्तण्ड, हरिमित्र वो सुमित्र ये सब ऋषि लोग अच्छे अच्छे वस्त्र वो भूषण पहरे द्वादश आदित्य के समान शोभते हैं। नाना शास्त्र विचार विचार प्राणियों के धर्म्म अधर्म्म का न्याय किया करते हैं। तिनके बीच में कानों में कुंडल, सिर में मुकुट पहिरे तारन्ह में चन्द्रमा समान महातेजस्वी धर्म्मराज सदा विराजते रहते हैं।

तहाँ अति निर्दयी निपट डरावने वैसे ही हाथ में दण्ड लिये दूतों ने उससे कि जिसको यहाँ से ले जा यम के पास खड़ा कर दिया था कि कैसा पाप तुमने किया है, सो धर्म्मराज के आगे सत्य बताओ।

इतने बीच में सभा में बैठे हुये प्रकट उचित कह निहार ऋषि लोग शास्त्र विचार के बोल उठे कि महाराज! इस पापी ने तो ब्राह्मण बध किया है, कुम्भीपाक में जहाँ का दुख सहा नहीं जाता, अपने कर्म्म का जैसा कुछ फल है सो बहुत दिन तक भोगेगा।

यह सुनते ही वो यम की आज्ञा पाय किङ्करों ने झट उसे पकड़ लिया वो लाठियों से मारते पीटते घसीटते वहाँ ले चले और वो ही नरक में, जहाँ कोई क्षण भर भी पीड़ा से बच नहीं सकता है, डाल दिया।

———

मित्रलाभ

लल्लूलाल

मित्रलाभ की कथा कहतु हैं क्योंकि मित्रलाभ में लाभ बहुत है कि एक चित्रग्रीव कपोत और कछुआ और हिरन अरु मूसा ये परम मित्र हे। तिनके मिलन और कर्म कहतु हौं कि जे असाध्य हैं निर्धन हैं पर बुद्धिवाननि तैं उनसों प्रीति है तिनके काज ऐसे सिद्ध होतु हैं कि जैसे काग कछुआ हिरन-मूसा के भये। यह सुन राजकुमारनि कही यह कैसी कथा है ? तहाँ विष्णु शर्मा कहतु हैं।

गोदावरी नदी के तीर एक सैमल कौ रूख तापै सब दिस के पंछी आय विश्राम लेतु हैं। एक दिन प्रात ही लघुपतनक नाम काग जाग्यो। वह एक काल रूप व्याधा कौं दूर तैं आवतु देखि चिचाय कर कहन लाग्यौ—आज भोर ही की बेला अधर्मी दुराचारी कौ मुख देख्यौ सो न जानियै कहा होय। ऐसी विचारि लघुपतनक काग उड़ि गयो। कह्यो है कि उतपात की ठाम पंडित चतुर न रहे, मुरख भय सोग बैठो सहे। इतेक में व्याधा ने रूख तरे चाँवर के कनिका डारि तापर जाल पसारौ। तहाँ चित्रग्रीव कपोत कुटुम्ब समेत उड़त इत आय कढ़ौ तिनमें ते एक पंछी देखि बोल्यौ इन चाँवरनि कौं हौं चुग्यौ चाहतु हौं। चित्रग्रीव कही अरे या वन में चाँवर कहाँ ते आये। यह कछु कौतुक है यातें ये मोकौं नीके नाहीं लागतु। सुनौ, जौ तुम इन चाँवरनि कौ लोभ करिहौ तौ वैसें होयगी जैसे कङ्कन के लोभ सों एक पथिक दलदल में फँसि बूढ़े बाघ कौ अहार भयौ। यह सुनि पंछियन कही यह कैसी कथा है ? तब चित्रग्रीव कपोतराज बोल्यौ :—

हौं ऐक दिन बन में रहौ तहाँ यह देख्यौ जु एक वृद्ध बाघ

पानी में न्हाय, कुश हाथ में लै मारग में बैठो । इतेक में एक बटोही ब्राह्मण आय कढ़ौ । वाने जब पंथ में नाहर बैठो देख्यौ, तब भय खाय वहाँ ही ठिठक्यौ । याहि भयातुर देखि बाघ बोल्यौ—अहो देवता हौं जो गैल में बैठो हौं सो पुन्य करन के हेतु । अरु मो पास सोना को कङ्कना है सो श्री कृष्णार्पण देतु हौं, तू लै । यह सुनि वह आपने मनमें विचारो कि आज तो मेरो भाग जागौ दीसतु है, पर ऐसे में जैवो जोग नाहीं क्योंकि बुरे तें भली वस्तुहू पाइबे पै आगे दुख होय । जौ अमृत में विष होय तौ मारै ही मारै । पुनि ऐसे हू कह्यो है कि बिन कष्ट द्रव्य हाथ नाहीं आवतु, अरु जहाँ कष्ट तहाँ फल है । जैसे जहाँ माया तहाँ साँप, पुष्प तहाँ कंटक । बिन दुख सहे सुख नाहीं । यह विचारि ब्राह्मन ने वासौं कही—कहाँ है वह कङ्कना । वाने हाथ पसारि दिखायौ तब विप्र कौं लोभ आयौ अरु बोलौ—अरे तू व्याधि कौ करनहारौ ! हौं तेरौ विश्वास कैसे करौं ? नाहर बोल्यौ अहो एक तो मैं प्रात स्नान करि दाता होय बैठौ हों । दूजे वृद्ध भयो । तातें नख दाँत अरु इन्द्रियन कौ बलहू नाहीं । अब मेरी प्रतीत क्यों न करै ? कह्यौ है यज्ञ, वेदपाठ, दान, तप, सत्य, धीरज, क्षमा, निर्लोभ ये आठ कहे हैं ते पाषण्डी ते न होंय । हौं तो अपने अर्थ के लिये दियौ चाहतु हौं । अरु बाघ मांस खातु हैं सो मेरें नाहीं । पर न जानत है सो कहतु है जैसे कुटिल काहु कौ धर्म कौं उपदेश देइ तेहू लोक न माने, अरु ब्राह्मन हत्यारों हू मानिये । तातें तू साचौं है । मेरी देह वृद्ध भई अरु या काया तें बहुत पाप किये हैं । यह समय सब पाप तज धर्म शास्त्र में पढ़्यौ अरु सुन्यौ है । प्रानी कौ ऐसौ चाहिए कि जैसे अपनी जीव प्यारौ है तैसो ही सब काहू कौ जानें । अरु चार प्रकार तें दान देतु हैं : धर्मार्थ, भयार्थ, उपकारार्थ, स्नेहार्थ । सो नांहि मैं केवल तोंहि दुखी जानि देतु हैं । श्रीकृष्ण चन्द्र ने हू राजा युधिष्ठिर तें कह्यौ है कि

दान दरिद्री कौं दीजै तौ अधिक फल होय क्योंकि औषध अरु पथ्य दुखी को देतु हैं, सुखी कौं नाहीं। अरु जौ देस काल पात्र देखि दान देत हैं सो दान सात्विकी कहियै। तातें ब्राह्मन! तूं सरोवर में न्हाय आ औ सुद्ध होय दान ले। वाकी बात सुनि लोभ कौ मारे ज्यों वह सरोवर में उतरो त्यों दौं में फँस्यौ। जब कीच में पाँव न कढ़ि सक्यौ तब बाघ हौलें वाकी ओर चल्यौ। ब्राह्मन कही—अरे! तुम काहे कौं आवतु हो? बाघ कही तू पानी में ठाढ़ौ रह, तो पै प्रयोग पढ़वाय कंकन दै स्वस्ति शब्द सुनौंगो। यह कहत पास जाय वाहि मारि भच्छन कियौ। तातै हौं कहतु हौं कि बिन बिचारे काम काहू न करियै।

राजा भोज का सपना

[राजा शिवप्रसाद, सितारेहिन्द]

वह कौन सा मनुष्य है, जिसने महाप्रतापी राजा महाराज भोज का नाम न सुना हो। उसकी महिमा और कीर्ति तो सारे जगत् में व्याप रही है। बड़े बड़े महिपाल उसका नाम सुनते ही काँप उठते और बड़े बड़े भूपति उसके पाँव पर अपना सिर नवाते। सेना उसकी समुद्र की तरंगों का नमूना और ख़जाना उसके सोने चाँदी और रत्नों की खान से भी दूना। उसके दान ने राजा कर्ण को लोगों के जी से भुलाया और उसके न्याय ने विक्रम को भी लजाया। कोई उसके राज

भर में भूखा न सोता और न कोई उघाड़ा रहने पाता। जो सत्तू माँगने आता उसे मोतीचूर मिलता और जो गजी चाहता उसे मलमल दी जाती। पैसे की जगह लोगों को अशर्फ़ियाँ बाँटता और मेह की तरह भिखारियों पर मोती बरसाता। एक एक श्लोक के लिए ब्राह्मणों को लाख लाख रुपया उठा देता और एक एक दिन में लाख लाख गोदान करता। सवा लाख ब्राह्मणों को षट्रस भोजन कराके तब आप खाने बैठता। तीर्थयात्रा, स्नान-दान और व्रत-उपवास में सदा तत्पर रहता। बड़े बड़े चांद्रायण किये थे और बड़े बड़े जंगल पहाड़ छान डाले थे। एक दिन शरद ऋतु में संध्या के समय सुन्दर फुलवाड़ी के बीच स्वच्छ पानी के कुण्ड के तीर, जिसमें कुमुद और कमलों के बीच जलपक्षी कलोलें कर रहे थे, रत्नजटित सिंहासन पर कोमल तकिये के सहारे से स्वस्थ चित्त बैठा हुआ महलों की सुनहरी कलसियाँ लगी हुई संगमर्मर की गुमजियों के पीछे से उदय होता पूर्णिमा का चाँद देख रहा था और निर्जन एकान्त होने के कारण मन ही मन में सोचता कि अहो! मैंने अपने कुल को ऐसा प्रकाश किया, जैसे सूर्य से इन कमलों का विकास होता है। क्या मनुष्य और क्या जीव-जन्तु, मैंने अपना सारा जन्म इन्हीं के भला करने में गँवाया और व्रत-उपवास करते करते अपने फूल से शरीर को काँटा बनाया। जितना मैंने दान दिया, उतना तो कभी किसी के ध्यान में भी न आया होगा। जिन जिन तीर्थों की मैंने यात्रा की, वहाँ कभी पक्षी ने पर भी न मारा होगा। मुझसे बढ़कर अब इस संसार में और कौन पुण्यात्मा है और आगे भी कौन हुआ होगा! जो मैं ही कृतकार्य नहीं तो फिर और कौन हो सकता है! मुझे अपने ईश्वर पर दावा है, वह मुझे अवश्य अच्छी गति देगा। ऐसा कब हो सकता है कि मुझे भी कुछ दोष लगे। इसी अर्से में चोबदार ने पुकारा—चौधरी इन्द्रदत्त निगाह रूबरू श्रीमहाराज

सलामत। भोज ने आँख उठाई, दीवान ने साष्टांग दण्डवत् की, फिर सम्मुख आ हाथ जोड़ यों निवेदन किया—पृथ्वीनाथ, वह कुएँ सड़क पर, जिनके वास्ते आपने हुक्म दिया था, बन कर तैयार हो गये और आम के बाग भी सब जगह लग गये। जो पानी पीता है, आप को असीस देता है और जो उन पेड़ों की छाया में विश्राम करता है, आपकी बढ़ती दौलत मनाता है। राजा अति प्रसन्न हुआ और कहा कि सुन, मेरी अमलदारी भर में जहाँ जहाँ सड़कें हैं, कोस कोस पर कुएँ खुदवाकर सदावर्त बैठा दे और दुतरफा पेड़ भी जल्द लगवा दे। इसी अर्से में दानाध्यक्ष ने आकर आशीर्वाद दिया और निवेदन किया कि धर्मावतार, वह जो पाँच हजार ब्राह्मण हर साल जाड़ों में रजाई पाते हैं सो डेवढ़ी पर हाज़िर हैं। राजा ने कहा—अब पाँच हजार के बदले पचास हजार को मिला करे और रजाई की जगह शाल-दुशाला दिया जावे। दानाध्यक्ष दुशालों के लाने के वास्ते तोशखाने में गया। इमारत के दारोगा ने आकर मुजरा किया और खबर दी कि महाराज वह बड़ा मंदिर, जिसके जल्द बना देने के वास्ते सरकार से हुक्म हुआ है, आज उसकी नींव खुद गई। पत्थर गढ़े जाते हैं और लोहार लोहा भी तैयार कर रहे हैं। महाराज ने तिउरियाँ बदलकर उस दारोगा को खूब घुरका और कहा कि मूर्ख, वहाँ पत्थर और लोहे का क्या काम है? मंदिर बिलकुल संगमर्मर और संगमूसा से बनाया जावे और लोहे के बदले उसमें सब जगह सोना काम में आवे, जिसमें भगवान् भी उसे देखकर प्रसन्न हो जावें और मेरा नाम इस संसार में अतुल कीर्ति पावे। यह सुनकर सारा दरबार पुकार उठा कि धन्य महाराज, क्यों न हो! जब ऐसे हो तब तो ऐसे हो। आपने इस कलिकाल को सतयुग बना दिया। मानो धर्म्म का उद्धार करने को इस जगत् में अवतार लिया। आज आपसे बढ़कर और

दूसरा कौन ईश्वर का प्यारा है ! हमने तो पहले ही से आपको साक्षात् धर्म्मराज विचारा है। व्यास जी ने कथा आरम्भ की। भजन कीर्तन होने लगा। चाँद सिर पर चढ़ आया। घड़ियाली ने निवेदन किया कि महाराज, रात आधी के निकट पहुँची। राजा की आँखों में नींद छा रही थी। व्यास जी कथा कहते थे, पर राजा को ऊँघ आती थी। उठकर रनवास में गया। जड़ाऊ पलँग और फूलों की सेज पर सोया। रानियाँ पैर दबाने लगीं। राजा की आँख झपक गई तो स्वप्न में क्या देखता है कि वह बड़ा संगमर्मर का मन्दिर बनकर बिलकुल तैयार हो गया। जहाँ कहीं उस पर नक्काशी का काम किया है तो बारीकी और सफाई में हाथीदाँत को भी मात कर दिया है। जहाँ कहीं पच्चीकारी का हुनर दिखलाया है तो जवाहिरों को पत्थरों में जड़कर तसवीर का नमूना बना दिया है। कहीं लालों के गुल्लालों पर नीलम की बुलबुलें बैठी हैं और ओस की जगह हीरों के लोलक लटकाये हैं। कहीं पुखराजों की डाण्डियों से पन्ने के पत्ते निकाल कर मोतियों के भुट्टे लगाये हैं। सोने की नींवों पर कमखाब के शामियाने और उनके नीचे बिल्लौर के हौज़ों में गुलाब और केवड़े के फुहारे छूट रहे हैं। मानो धूप जल रहा है, सैकड़ों कपूर के दीपक बल रहे हैं। राजा देखते ही मारे घमण्ड के फूलकर मशक बन गया। कभी नीचे, कभी ऊपर, कभी दाहिने, कभी बायें निगाह करता और मन में सोचता कि क्या अब इतने पर भी मुझे कोई स्वर्ग में घुसने से रोकेगा या पवित्र पुण्यात्मा न कहेगा ! मुझे अपने कर्मों का भरोसा है। दूसरे किसी से क्या काम पड़ेगा ! इसी अर्से में वह राजा उस सपने के मन्दिर में खड़ा खड़ा क्या देखता है कि एक जोत-सी उसके सामने आसमान से उतरी चली आती है। उसका प्रकाश तो हज़ारों सूर्य से भी अधिक है। परन्तु जैसे सूर्य को बादल घेर लेता है इस प्रकार

उसने मुँह पर घूँघट सा डाल लिया है, नहीं तो राजा की आँखे कब उस पर ठहर सकती थीं। वरन इस घूँघट पर भी मारे चकाचौंध के झपकी चली जाती थीं। राजा उसे देखते ही काँप उठा और लड़खड़ाती सी जबान से बोला कि हे महाराज, आप कौन हैं और मेरे पास किस प्रयोजन से आये हैं? उस दैवी पुरुष ने बादल की गरज के समान गम्भीर उत्तर दिया कि मैं सत्य हूँ। मैं अन्धों की आँख खोलता हूँ, मैं उनके आगे से धोखे की टट्टी हटाता हूँ, मैं मृगतृष्णा के भटके हुओं का भ्रम मिटाता हूँ और सपने के भूले हुओं को नींद से जगाता हूँ। हे भोज, यदि कुछ हिम्मत रखता है तो आ, हमारे साथ आ, और हमारे तेज के प्रभाव से मनुष्यों के मन के मंदिरों का भेद ले। इस समय हम तेरे ही मन को जाँच रहे हैं। राजा के जी पर एक अजब दहशत सी छा गई। नीची निगाह करके गर्दन खुजाने लगा। सत्य बोला—भोज, तू डरता है। तुझे अपने मन का हाल जानने में भी भय लगता है? भोज ने कहा कि नहीं इस बात से तो नहीं डरता, क्योंकि जिसने अपने तईं नहीं जाना, उसने फिर क्या जाना! सिवाय इसके मैं तो आप चाहता हूँ कि कोई मेरे मन की थाह लेवे और अच्छी तरह से जाँचे। मारे व्रत और उपवासों के मैंने अपना फूल सा शरीर काँटा बनाया, ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा देते देते सारा ख़जाना खाली कर डाला। कोई तीर्थ बाकी न रक्खा, कोई नदी या तालाब नहाने से न छोड़ा। ऐसा कोई आदमी नहीं है, जिसकी निगाह में मैं पवित्र पुण्यात्मा न ठहरूँ। सत्य बोला—ठीक, पर भोज यह तो बतला कि तू ईश्वर की निगाह में क्या है? क्या हवा में बिना धूप तृणरेणु कभी दिखलाई देते हैं? पर सूर्य की किरण पड़ते ही कैसे अनगिनत चमकने लग जाते हैं। क्या कपड़े से छाने हुए मैले पानी में किसी को कीड़े मालूम पड़ते हैं? पर जब खुर्दबीन-शीशे को लगाकर देखो तो

एक एक बूँद में हज़ारों जीव सूझने लग जाते हैं। बस, जो तू उस बात को जानने से, जिसे अवश्य जानना चाहिए, डरता नहीं तो आ, मेरे साथ आ, मैं तेरी आँखें खोलूँगा। निदान सत्य यह कह के राजा को मंदिर के उस बड़े दरवाजे पर चढ़ा ले गया कि जहाँ से सारा बाग़ दिखलाई देता था और फिर वह उससे यों कहने लगा कि भोज, मैं अभी तेरे पाप-कर्म्मों की कुछ भी चरचा नहीं करता; क्योंकि तूने अपने तईं निरा निष्पाप समझ रक्खा है। पर यह तो बतला कि तूने पुण्य-कर्म कौन कौन से किये हैं कि जिनसे सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर सन्तुष्ट होगा। राजा यह सुन के अत्यन्त प्रसन्न हुआ। यह तो मानो उसके मन की बात थी। पुण्य-कर्म के नाम ने उसके चित्त को कमल सा खिला दिया। उसे निश्चय था कि पाप तो मैंने चाहे किया हो, चाहे न किया हो, पर पुण्य मैंने इतना किया है कि भारी से भारी पाप भी उसके पासंग में न ठहरेगा।

आश्चर्य वृत्तान्त

[अम्बिकादत्त व्यास]

चित्रकूट से कुछ दक्षिण को झुकते पुष्करणी तीर्थ के पास विराधकुण्ड नामक एक तीर्थ है। वहाँ की भूमि भूपहाड़ों के कारण अत्यन्त कठिन और पाषाणमय है। वहाँ लगभग सोलह सत्रह हाथ की चौड़ाई का एक गोल कुँआ ऐसा गहरा है कि उसके देखने ही से ऐसा आश्चर्य होता है कि इन चट्टानों को तोड़कर इस घोर जंगल

में यह किस बली ने खुदवाया है। वहाँ एक बात प्रसिद्ध है कि श्रीरामचन्द्र ने विराधराक्षस के गाड़ने को गड़हा करने के लिए पृथ्वी में बाण मारा, तब पाताल तक छेद हो गया था, सो यही है। अब तक लोग उसमें बड़े बड़े पत्थरों के ढोंके छोड़ते हैं, पर वह ऐसा गड़हा है कि खड़का तक नहीं सुन पड़ता। वह कितना गहरा है और कैसा है इसके निश्चय करने को अँगरेज लोग बहुत दिनों से पीछे पड़े हैं, पर अभी तक कुछ पता नहीं लगा। १ मार्च सन् १८८४ ई० को अमेरिका के प्रसिद्ध प्रोफेसर, लूफलियों वहाँ पहुँचे। उसी के पास तम्बू तान डेरा डाला और दूरबीन लगाकर नाप-जोखकर यह निश्चय किया कि किनारे की चारों ओर सन्धों से अनेक घास-फूस और पेड़ आदि निकल आये हैं; तो यदि किसी किनारे से कुछ लटकाया जायगा तो उन झाड़ झंखाड़ों में फँस जायगा। इसलिये जैसे कुएँ में घरारी पर बड़ा घड़ा लटकाया जाता है वैसे ही एक बड़ी घरारी पर से कल के द्वारा एक भारी लंगर इसके बीचों-बीच लटकाया जाय, उसी से इसकी गहराई का पता लगेगा। बस ५ तारीख को कल और लंगर मँगाने के लिये बम्बई पत्र भेजा गया और १४ तारीख को सब सामान आ पहुँचा और ३१ मार्च तक खोद-खाद गाड़-गूड़कर घरारी ठीक ठीक जमा दी गई।

अब १ अप्रेल को सबेरे सात बजे प्रोफेसर साहब के साथ और भी कई अँगरेज लोग चारों ओर दूरबीन ले लेकर बैठे और घरारी पर से ४५ मन का लंगर लटकाया गया। उस गड़हे में बड़ा ही घोर अन्धकार था, इसलिये प्रोफेसर साहब ने इस लंगर में एक बड़ा लम्प भी बाँध दिया था कि ज्यों-ज्यों नीचे जाय त्यों-त्यों उजाला भी होता जाय और ऊपर से सब कुछ देख भी पड़ता जाय। बस धीरे-धीरे लंगर लटकने लगा और उस अँधेरे में के पेड़, झाड़-झंखाड़,

मकड़ियों के जाले, साँपों की केचुलियाँ, बिल और सन्धों में बैठे बिच्छू आदि जन्तु देख पड़ने लगे। प्रोफेसर साहब उसे देख-देख अपनी बही में कुछ कुछ लिखते जाते थे और यह लटकता जाता था। यहाँ तक कि दूर होने के कारण अन्त में वह लंगर केवल एक गुब्बारे वा तारे ऐसा चमकने लगा और उसके चारों ओर केवल अँधेरा देख पड़ने लगा।

नौ बजने के समय साहब ने निश्चय किया, तो वह लंगर २ माइल और ३३७ गज नीचे जा चुका था। जब १५ मिनट और बीते तब वह लंगर लटकने से रुक गया। साहब ने हिसाब किया तो वह उतनी देर में ४५० गज़ और नीचे जा पहुँचा; अर्थात् कुल २ मील और ७८७ गज नीचे जा पहुँचा था।

जब उन लोगों ने यह निश्चय किया कि अब लंगर को नीचे की ओर लटकाना किसी प्रकार हो ही नहीं सकता तो हारकर ऊपर ही खींचने लगे। पर खींचने के समय उस लंगर का बोझा बढ़ जाना देख साहब को, और और लोगों को भी, बड़ा आश्चर्य हुआ और चकचिहा कर देखने लगे कि देखें लंगर के साथ उलझा पुलझा क्या आता है।

फिर क्रम से पहले धीरे-धीरे वह लंगर की लालटेन चमकने लगी। फिर उसका भी कुछ कुछ आकार देख पड़ने लगा। फिर जब तक लोग एकटक लगाकर देखते ही हैं तब तक तो उस गम्भीर गड़हे से एक बड़ी गूँज के साथ ध्वनि भी आने लगी। तब तो सभों को और भी आश्चर्य हुआ और ध्यान देकर सुनने से जाना गया कि 'धीरे-धीरे' यह शब्द है। मनुष्य के शब्द का निश्चय होते ही लंगर धीरे धीरे खींचा जाने लगा। और थोड़ी देर में यह शब्द स्पष्ट सुन पड़ने लगा। फिर देखा कि जाले और सूखी लताओं के साथ एक मनुष्य

उस लंगर में चिपट रहा है। देखते ही साहब ने और लोगों ने भी उसे धीरज धराया कि "घबराओ मत लंगर को बल से पकड़े रहो" ज्योंही लंगर ऊपर आया त्योंही कलबल से साहब ने उस मनुष्य को लंगर से उतारा और उसके जाले छुड़ा धूल झाड़ी। पर वह मारे घबराहट के एकाएकी बेचेत सा होकर हाँफता हुआ लेट गया।

उसके कपड़े-लत्तों से जान पड़ता था कि वह राजपूताने की ओर का रहनेवाला किसी भले घर का आदमी है। झट छाया में ले जाकर लोगों ने उसे पानी के छींटे दे हवा कर ठण्डा किया। घंटे भर में वह अपने में आया। जल पीने के अनन्तर उसने पूछा कि यह कौन स्थान है? समीप कौन पहाड़ी है? यहाँ से गयाजी कितनी दूर है, और आप लोग क्यों जुटे हैं? ये प्रश्न सुनकर लोग और भी चकित हुये क्योंकि इस समय ये कई बातें आश्चर्य की उपस्थित हुई कि पहले तो उस विराधकुण्ड ही की गहराई बहुत लम्बी पाना और फिर उसमें से विचित्र रीति से मनुष्य का निकलना, तिस पर भी वह मनुष्य राजपूताने की ओर का और फिर भी वह पूछने लगा कि यहाँ से गयाजी कितनी दूर है?

उस समय उन लोगों को गड़हे की गहराई का कौतुक छोड़ इसकी बातें सुनने का एक नया ही कौतुक आ उमगा और चारों ओर से भीड़ों के ठट्ठे जमने लगे।

पहले उसे संक्षेप से यह कह सुनाया गया कि यह चित्रकूट के पास का जंगल है और झन्ना पन्ना पत्थर कछरा वगैरह की राजधानी समीप है। वे पहाड़ भी उसी लगाव के हैं। यहाँ से गयाजी सैकड़ों कोस पर है तथा हम लोग आज इस गड़हे की गहराई नापने को इकट्ठे हुये थे और इसलिये हम लोगों ने यह लङ्गर लटकाया था, पर इस लंगर के साथ आपको देख अब हम लोगों को कैसा आश्चर्य

ा रहा है; कह नहीं सकते। आप कौन हैं ? कहाँ के हैं ? कैसे स गड़हे में आये और कब से इसमें हैं ? वहाँ का क्या हाल है ? म लोगों को बड़ा ही आश्चर्य है कि आप इधर से गिर के भीतर ाते तो जीते कैसे ? कोई सुरङ्ग होती तो क्या इस अँगरेजी राज्य भी छिपी रहती ? भूगर्भ की किसी विचित्र सृष्टि के पुरुष होते तो म लोगों से झटपट बोल चाल कैसे मिलती ?

यह सुन वह आदमी और भी आश्चर्य में भर उठा। इधर-उधर ाकने लगा और बोला कि "क्या गयाजी सैकड़ों कोस पर है ?" वे ले—"हाँ, हाँ, सैकड़ों कोस पर है।" यह सुन वह चार-पाँच मेनट तक चुप होकर मन ही मन विचारने लगा कि, "परमेश्वर की या माया है ? मैं कहाँ का रहनेवाला, कहाँ सैर करने गया, कहाँ ा पड़ा और कहाँ आ निकला !" फिर कुछ ठिठक कर प्रकट बोला क "अच्छा आप लोगों को मेरा इतिहास सुनने का कुतूहल हो तो ुनिये, मैं कहूँगा। मेरी कथा बड़ी लम्बी-चौड़ी और आश्चर्यमयी ।" फिर जब चारों ओर से, "हाँ हाँ कहिये, कहिये, हमारा बड़ा ी लगा है" यह ध्वनि हुई तो बोला कि, "अच्छा तो मैं बड़ी देर प्यासा हूँ, थोड़ा जल पीलूँ तो स्वस्थ होकर कहूँ।" उसने उठकर ास ही वाले एक पहाड़ की चट्टान के बीच से झरते हुए झरने का टका पानी पिया और फिर वह हाथ मुँह धो आँखें मल रूमाल से ह पोंछता हुआ फिर उसी समाज में आ बैठा और चारों ओर से ोगों को एकटक अपनी ही ओर ताकता हुआ देख अपनी कथा हने लगा।

"मैं राजपूताने का रहनेवाला एक वैश्य हूँ, पर मैं बहुत दिनों कलकत्ते में कोठी का काम करता हूँ और प्रयाग, काशी, पटने ादि स्थलों में बेर बेर जाता रहता हूँ और नये-नये नाटकादि-

संवादपत्रों की उलट-पलट किया करता हूँ। इसलिये मेरी बोल चाल से आप लोग कुछ भी न पहचानियेगा कि यह पछाँही है। पर हाँ, हम लोग अपना वेष नहीं बदलते हैं।

मैं कलकत्ते से अपने पिता का श्राद्ध करने गयाजी आया था। मैं अकेला न था। साथ में दस-पन्द्रह पुरुष और भी थे। हम लोगों ने तीर्थ में जा विधि-पूर्वक श्राद्ध किया। तब इच्छा हुई कि अब गया के इधर घूमकर पहाड़ों की भी हवा खायँ। पहले सब लोग बुद्धगया गये। यह गयाजी के दक्षिण लगभग तीन कोस की दूरी पर है। वहाँ एक बड़ा भारी बुद्ध का मन्दिर है, जिसे बहुत पुराना और टूटा-फूटा समझकर पहले ब्रह्मा के बादशाह ने जीर्णोद्धार करवाया था और अब सरकार अँगरेज बहादुर की ओर से भी पुनः संस्कार कराया जा चुका है।

सचमुच ऐसा विशाल और ऊंचा मंदिर मैंने आज तक कहीं कोई नहीं देखा था। वहाँ के स्थान के बुद्ध-चिह्न देखने से मुझे इस देश में किसी समय बौद्धमत के पूरे फैल जाने का स्मरण होता था।

वहाँ एक बड़े सम्पन्न महन्त की गद्दी है। इनको वहाँ के छोटे राजा ही कहना चाहिये। इनके यहाँ साधुओं की जमात है और विदेशियों को नियम से सीधा मिलता है। ये लोग शंकर मतानुयायी हैं। इनके देखने से मुझे साथ ही यह भी स्मरण हुआ कि स्वामी शङ्कराचार्य कैसे प्रतापी और बौद्धमत के विरुद्ध थे कि जहाँ बौद्ध का मंदिर, वहाँ साथ ही उनकी गद्दी भी अब तक जम रही है।

फिर हम लोग ब्रह्मयोनि के ऊँचे पहाड़ पर गये। यह गया के बहुत समीप है। इस पर से गया और साहबगंज के नगर भर की शोभा देख पड़ती थी। ऐसा जान पड़ता था कि किसी ने उस नगर

का चित्र लिख पैर के पास धर दिया है। जैसे काशी में और कलकत्ते में धरहरे और हाईकोर्ट नगर भर की शोभा देखने को ऊँचे स्थान हैं, उन्हीं की टक्कर में मुझे गया में ब्रह्मयोनि का पहाड़ जान पड़ा।

मैं उसे भली भाँति देख-भाल कर फिर बस्ती में आया। वहाँ लोगों के मुँह से 'बराबर' पहाड़ की बड़ी प्रशंसा सुनी कि वह अभी तक सिद्ध स्थान है और वहाँ बहुत तपस्वी मुनि लोग भी रहते हैं। तब मैं बड़ा उत्कण्ठित होकर चार-पाँच इष्टमित्र और नौकरों के साथ उस पहाड़ की ओर चला।

यह पहाड़ गया से कुछ दूर पड़ता है। मैं सैलानी पुरुष दूसरे दिन वहाँ के लिये चला। मार्ग में कई एक गाँव पड़े। वहाँ की विचित्र भाषा और विचित्र पहनाव देख मेरे चित्त में और ही भाव होता था। एक निरे गयावासी और दूसरे एक टटके मैथिल भी मेरे साथ पड़ गये थे। जब वे एक दूसरे से बातें करते थे तो विचित्र ही "कल्लथू, सुलालथू;" और "कहै छी, सुनै छी" की झड़ी सुन पड़ती और जो था सो था ही, पर इनकी बात में 'थू' और उनकी बात में 'छी' था।

'बराबर' नामक पहाड़ दूर ही से देख पड़ने लगा। जान पड़ता था कि वह भी सिर उठाकर हम लोगों को देख रहा है। इसके सबसे ऊँचे शिखर पर एक पेड़ भी बड़ा भारी देख पड़ता था, जैसे सिर पर तुर्रा हो। इसी के पास एक पहाड़ था, उसका नाम लोगों ने 'कौआ डोल' बताया। यह बात भी लोगों से जानी गई कि इस पर एक बड़ी भारी शिला है। वह केवल एक कौए के बैठने से भी हिल जाती है। मैंने भी मान लिया कि क्या आश्चर्य है कोई शिला ऐसी ही तराजू ऐसी होगी जो कौए का बोझा भी किसी ओर सम्हाल न सके।

यों साँझ होते-होते हम उस 'बराबर' के पहाड़ की जड़ में

पहुँचे। उस समय एक तो साँझ होने के कारण अन्धकार होता ही आता था फिर उस पहाड़ के पेड़ों ने तो घने होने के कारण एका-एकी नील ही रूप धारण कर लिया। वह आकाश चूमता हुआ ऊँचा पहाड़, वह श्याम पेड़ों की घटा, वह ठंडी हवा का सर्राटा, वह बनैले जन्तुओं का शब्द, वह बड़ी कन्दराओं का गूँजना और वह एक विलक्षण सन्नाटा इस समय भी मुझको प्रत्यक्ष ही सा जान पड़ता है।

फिर हम लोगों का एक साथी जो मार्ग जानता था, आगे आगे चला, हम लोग पीछे पीछे चले। उसी पेड़ों के झमाट में एक ऊँची सी भूमि पर चढ़ना आरम्भ किया। पैर पैर पर भालू का भय उमड़ने लगा। मेरे पास कोई शस्त्र न था, पर मैंने अपनी छड़ी ही कसके थामी। सावधान नेत्रों से चकपकाकर चारों ओर देखता हुआ चला।

ऊपर चढ़ जाने से उस मन्द अँधेरे में भी यह देख पड़ने लगा कि यह पहाड़ कङ्कणाकार चारों ओर घूम गया है और बीच में इसने थोड़ा अवकाश छोड़ दिया है और इसी पहाड़ी के घेर में पूर्व की ओर यह चढ़ाववाली भूमि थी, मानों घेरे में जाने का यह द्वार था। उस समय मुझे नैपाल आदि दुर्गम स्थानों का स्मरण होने लगा। यह मेरे चित्त में आया कि ऐसे ही स्थानों में महाराष्ट्रों की फौज लेके शिवाजी क्रीड़ा करते थे।

तब फिर उतार की भूमि आई। एक ने कहा—"इस ठिकाने भूत-पिशाच अधिक रहते हैं। कोई सङ्ग छोड़ के आगे-पीछे मत होना।" दूसरे ने कहा—"हाँ, यहाँ ही बैठ के आस लगाये रहते हैं कि हमें कोई गया में पिण्ड दे।" मैं दोनों की बात सुन के मन ही मन हँसा और धीरे से कहा कि "हाँ, यहाँ के भूत, भालू और

बाघ होकर बिचरते हैं।" इतने में रात हो गई। चन्द्रमा उगे। दूध की सी वर्षा होने लगी। झरनों का जल चमाचम चमकने लगा। वहाँ से पेड़ों का काँपना देख पड़ने लगा और चारों ओर बिखरे हुये काले पत्थर भालुओं का भ्रम देने लगे।

मैं बहुत थक गया था सो चुपचाप एक ऊँचे पत्थर पर बैठ गया। मेरे साथियों में से यह बात किसी ने न जानी और मैंने भी न कहा—समझा कि झट साथ हो ही जाता हूँ, कहूँ क्या ?

उस उमड़े हुए समुद्र ऐसे पहाड़ में मेरी आँख जा लगी, लगभग दो मिनट के मैं इधर ही देखता रहा। फिर चित्त में कुछ भय हुआ कि लोग यहाँ भूत बतलाते थे, कहीं सचमुच ही कहीं कोई भूत न आ जाय। इधर तो यह डर का अंकुर जमा और उधर देखा कि कोई साथी नहीं। सब क्या जाने किधर चले गये ? मैं चकचिहा कर देखने लगा। इतने ही में ऐसा जान पड़ा कि किसी ने पीछे से कंधे पर धीरे से धक्का दिया। मैं इस स्पर्श का अनुभव करते ही चिहुँक कर उछल पड़ा और एक ओर खड़ा हो गया और आश्चर्य तथा भय सहित दृष्टि से पीछे फिर देखने लगा। उधर जो कुछ देखा सो कहते अब भी मुझे रोमाञ्च होता है और हृदय और का और हुआ जाता है।

———

इन्दुमती या वनविहङ्गिनी

[किशोरीलाल गोस्वामी]

प्रथम परिच्छेद

इन्दुमती अपने बूढ़े पिता के साथ विंध्याचल के घने जंगल में रहती थी। जब से उसके पिता वहाँ पर कुटी बनाकर रहने लगे थे, तब से वह बराबर उन्हीं के साथ रही, न कभी जंगल के बाहर निकली और न किसी दूसरे का मुँह देख सकी। जब उसकी अवस्था चार वर्ष की थी, तभी उसकी माता का परलोकवास हुआ था और उसके पिता उसे लेकर वनवासी हुए थे। फिर जब से वह समझने योग्य हुई, तब से नाना प्रकार के बनैले पशु, पक्षियों, वृक्षावलियों और गंगा की धारा के अतिरिक्त यह नहीं जानती थी कि,--संसार या संसारी सुख क्या है और इसमें कैसे-कैसे विचित्र पदार्थ भरे पड़े हैं! फूलों को बिन बिनकर माला बनाना, हरिणों के संग कलोल करना, दिन भर वन वन में घूमना और पक्षियों का गाना सुनना; बस यही उसका काम था। वह यह भी नहीं जानती थी कि,—मेरे बूढ़े पिता के अतिरिक्त और भी कोई मनुष्य संसार में है।

एक दिन वह नदी में अपनी परछाईं देखकर बड़ी मोहित हुई, पर जब उसने यह जाना कि यह मेरी ही परछाईं है तब वह बहुत ही लज्जित हुई; यहाँ तक कि उस दिन से फिर कभी उसने नदी में अपना मुख नहीं निहारा।

गर्मी की ऋतु थी और दोपहर का समय था; जब कि उसके पिता अपनी कुटी में बैठे हुए "गीता" की पुस्तक देख रहे थे। उस समय वह नदी किनारे पेड़ों की ठंडी छाया में घूमती फिरती फूलों को

तोड़ तोड़ नदी में बहाती हुई कुछ दूर निकल गई थी कि एकाएक चौंककर खड़ी हो गई। उसने एक ऐसी वस्तु देखी कि जिसका उसे स्वप्न में भी ध्यान न था और जिसके देखने से उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। इसने क्या देखा कि एक बहुत ही सुन्दर, बीस, बाईस वर्ष का नवयुवक नदी किनारे, पेड़ की छाया में, घास पर पड़ा सो रहा है!

इन्दुमती ने आज तक अपने बूढ़े पिता को छोड़ और किसी दूसरे मनुष्य की सूरत नहीं देखी थी। वह अभी तक यही सोचे हुए थी कि यदि संसार में और भी मनुष्य होंगे; और उनकी डाढ़ी मूँछें पकी हुई होंगी! उसने जब अच्छी तरह आँखें फाड़ फाड़कर उस परम सुन्दर युवक को देखा तो अपने मन में निश्चय किया कि,—मनुष्य तो ऐसा होता नहीं, इसलिए हो न हो यह कोई देवता होंगे! क्योंकि मेरे पिता जब देवताओं की कहानी मुझे सुनाते हैं, तो उन देवताओं के ऐसे ही रूप-रंग बतलाते हैं। यह सोचकर वह मन में कुछ डरी और कुछ दूर हट, पेड़ की ओट में खड़ी हो और टकटकी बाँधकर उस युवक को देखने लगी; और मारे डर के युवक के पास तक न गई, तथा उसकी सुन्दरता से मोहित हो, कुटी की ओर भी अपना पैर न बढ़ा सकी। योंही घंटों बीत गए, पर इन्दुमती को यह न जान पड़ा कि मैं कितनी देर से खड़ी खड़ी इसे निहार रही हूँ!

निदान बहुत देर पीछे वह अपना जी कड़ा करके वृक्ष की ओट से निकलकर युवक के आगे बढ़ी। वह दो ही चार पग चली होगी कि एकाएक उस युवक की नींद खुल गई और उसने अपने सामने एक परम सुन्दरी देवी-मूर्ति को देखा; जिसके देखने से उसके आश्चर्य की सीमा न रही। वह मन ही मन सोचने लगा कि

इस भयानक और घनघोर जंगल में ऐसी मनमोहिनी परम सुन्दरी स्त्री कहाँ से आई !

युवक ने मन ही मन कहा कि, ऐसा रूप-रंग तो बड़े-बड़े राजाओं के रनिवास में भी दुर्लभ है, सो इस वन में कहाँ से आया ! सो या तो मैं स्वप्न में स्वर्ग की सैर करता होऊँगा, या किसी देवकन्या, या वनदेवी ने मुझे छलने के लिए दर्शन दिया होगा !

यही सब सोच-विचार करता हुआ वह भी पड़ा पड़ा इन्दुमती की ओर निहारने लगा। दोनों की रह रहकर आँखें चार हो जातीं, जिनसे अचरज के अतिरिक्त और कोई भाव नहीं झलकता था। योंही परस्पर देखा-भाली होते होते एकाएक इन्दुमती के मन में किसी अपूर्व भाव का उदय हो आया, जिससे वह इतनी लज्जित हुई कि उसकी आँखें नीची हो गईं और मुख लाल हो गया। वह भागना चाहती थी कि चट युवक उठकर सामने खड़ा हो गया और कहने लगा, हे सुन्दरी ! तुम देवकन्या हो, या वनदेवी हो अथवा चाहे कोई हो, पर कृपा करके यदि तुमने दर्शन दिया है तो जरा सी दया और करो; तनिक ठहरो और मेरी बातें सुनो; घबराओ मत। यदि तुम मनुष्य की लड़की हो तो डरो मत, क्योंकि क्षत्री लोग स्त्रियों की रक्षा करने के सिवाय उनके साथ कभी बुराई नहीं करते। सुनो, यदि तुम सचमुच वनदेवी हो तो कृपा कर मुझे इस वन से निकलने का सीधा मार्ग बता दो। क्योंकि मैं विपत्ति का मारा, तीन दिन से इस वन में भटक रहा हूँ, पर इसमें से निकलने का मार्ग नहीं पाता। और जो तुम मेरी ही भाँति मनुष्य जाति की कन्या होओ तो मैं तुम्हारा 'अतिथि' हूँ, मुझे केवल आज भर के लिए टिकने की जगह दो। बस, इसके अतिरिक्त और अधिक मैं तुमसे कुछ नहीं चाहता !'

युवक की बातें सुनकर इन्दुमती ने मन में विचारा कि तो

क्या ये देवता नहीं हैं और हमी लोगों की भाँति मनुष्य हैं ! ऐसा हो सकता है, क्योंकि जो ये देवता होते तो ऐसी मीठी मीठी बातें बनाकर आप ही मेरे अतिथि क्यों बनते, इसलिए कि देवताओं को कमी किस बात की है ! और वे क्या नहीं जानते, जो हमसे वन का मार्ग पूछते। तो यह मनुष्य ही होंगे, पर क्या मनुष्य इतने सुन्दर होते और ऐसी मीठी बातें करते हैं ! अहा ! एक दिन मैं जल में अपनी सुन्दरता देखकर ऐसी मोहित हुई थी कि क्या कहूँ ! किन्तु इनकी सुन्दरता के आगे तो मेरा रूप-रंग निरा पानी है। इस तरह सोचते-विचारते उसने अपना सिर ऊँचा किया और देखा कि युवक अपनी बात का उत्तर पाने के लिये सामने एकटक लगाये खड़ा है। यह देखकर वह बहुत ही अधीनताई और मधुर स्वर से बोली कि, "मैं अपने बूढ़े पिता के साथ इसी घने जंगल के भीतर एक छोटी सी कुटी में, जो एक सुहावनी पहाड़ी की चोटी पर बनी हुई है, रहती हूँ। अतएव यदि तुम मेरे अतिथि हुआ चाहते हो तो मेरी कुटी पर चलो। वहाँ चलकर जो कुछ मुझ से बनेगा, कन्दमूल, फल-फूल और जल से तुम्हारी सेवा करूँगी और मेरे पिता भी तुम्हें देखकर बहुत प्रसन्न होंगे।" इतना कह कर वह युवक को अपने साथ ले पहाड़ी पगडंडी से होती हुई अपनी कुटी की ओर बढ़ी।

दूसरा परिच्छेद

उसने जो युवा से यह कहा था कि मेरे पिता भी तुम्हें देखकर बहुत प्रसन्न होंगे; सो केवल अपने स्वभाव के अनुसार ही कहा था, क्योंकि वह यही जानती थी कि ऐसी सुन्दर मूर्ति को देखकर मेरे पिता भी मेरी ही भाँति आनन्दित होंगे। परन्तु कुटी के पास पहुँचते ही उसका सब सोचा-विचारा हवा हो गया। उसके सुख का

सपना जाता रहा और वह जिस बात को ध्यान में भी नहीं ला सकती थी, वही उसके आगे आई ! अर्थात् वह बूढ़ा अपनी लड़की को पराये पुरुष के साथ आती हुई देखकर मारे क्रोध के आग हो गया, और अपनी कुटी से निकल युवक के आगे खड़ा हो, यों कहने लगा, "अरे दुष्ट ! तू कौन है ? क्या तुझे अपने प्राण का मोह नहीं है, जो तू बेधड़क मेरी कन्या से बोला और मेरी कुटी पर चला आया ? तू जानता नहीं कि जो मनुष्य मेरी आज्ञा के बिना इस वन में पैर रखता है, तुरन्त उसका सिर काटा जाता है ? अच्छा ठहर, अब तुझे भी नियमानुसार प्राणदण्ड दिया जायगा।"

इतना कह वह क्रोध से युवक की ओर घूरने लगा। उस समय बेचारी इन्दुमती की विचित्र दशा थी। उसने आज तक अपने पिता की ऐसी भयानक मूर्ति नहीं देखी थी। सो वह अपने पिता का ऐसा अनूठा क्रोध देख, पहले तो बहुत डरी, फिर अपने ही लिये एक युवा बटोही बेचारे का प्राण जाते देख जी कड़ाकर बूढ़े के पैरों पर गिर पड़ी और रो रो तथा गिड़गिड़ा गिड़गिड़ाकर युवक के प्राण की भिक्षा माँगने लगी। उस समय उसने अपने पिता को यह अच्छी तरह समझा दिया कि इसमें इस युवक का कोई दोष नहीं है, इसे मैं ही कुटी पर ले आई हूँ। यदि इसमें कोई अपराध हुआ हो तो उसका दण्ड मुझे मिलना चाहिए, न कि इस युवक को।

कन्या की ऐसी अनोखी विनती सुनकर वह बुड्ढा कुछ ठंडा हुआ और युवा की ओर देखकर बोला कि, "सुनो जी ! इस अज्ञान लड़की की विनती से मैंने तुम्हारा प्राण छोड़ दिया, परन्तु तुम अब यहाँ से जाने न पाओगे, कैदी की तरह जन्म भर तुम्हें यहाँ रहकर हमारी गुलामी करनी पड़ेगी, और जो तुम भागने का मन्सूबा बाँधोगे तो तुरन्त मारे जाओगे।" इतना कहकर ज़ोर से बुड्ढे ने सीटी बजाई,

जिसकी आवाज दूर दूर तक बन में गूँजने लगी और देखते देखते बीस-पच्चीस आदमी हट्टे-कट्टे यमदूत की सूरत, हाथ में ढाल, तलवार लिये, बुड्ढे के सामने आ खड़े हुये। उन्हें देखकर उस बुड्ढे ने कहा, "सुनो वीरो, इस युवक को (अँगुली से दिखाकर) आज से मैंने अपना बँधुआ बनाया है, अतएव तुम लोग इस पर ताक लगाये रहना, जिसमें यह भागने न पावे। और अब तुम लोग इसकी तलवार ले लो और बस यहाँ से जाओ।"

इतना सुनते ही वे सब के सब युवक से तलवार छीन और सिर झुकाकर चले गये, पर इस नए तमाशे को देख इन्दुमती के होश-हवास उड़ गये। क्योंकि जब से उसने होश सम्हाला था, तब से आज तक अपने बुड्ढे बाप को छोड़ और किसी दूसरे मनुष्य की सूरत तक उसने नहीं देखी थी; पर आज एकाएक इतने आदमियों को अपने पिता के पास देखकर वह बहुत ही चकपकाई, पर डर के मारे कुछ बोली नहीं। बुड्ढे ने युवक की ओर आँखें उठाकर कहा कि, "देखो, अब तुम मेरे बँधुये हुए; इसलिये अब से जो जो मैं कहूँगा; सो तुम्हें करना पड़ेगा। उनमें आज पहिला काम तुम्हें यह दिया जाता है कि तुम इस सूखे पेड़ को (दिखलाकर) काट काटकर लकड़ी को कुटी के भीतर रक्खो। ध्यान रक्खो, यदि तुमने ज़रा भी मेरी आज्ञा टाली, तो फिर समझ लेना कि तुम्हारे धड़ पर विधाता ने सिर बनाया ही नहीं। और अरी इन्दुमती, तू भी कान खोलकर सुन ले। यदि अब से फिर कभी तू इस युवक के साथ किसी तरह की भी बात-चीत करेगी तो तेरी भी वही दशा की जायगी, जिसकी ओर इस युवक से इंगित किया गया है।"

इतना कहकर वह बुड्ढा कुटी के भीतर चला गया और फिर उसी "गीता" की पुस्तक को लेकर पढ़ने लगा।

उस बुड्ढे का विचित्र रंग-ढंग देखकर हमारे युवक के हृदय में उस समय कैसे कैसे भावों की तरंगें उठी होंगी, हम उसके लिखने में असमर्थ हैं। पर हाँ, इतना तो उसने मन ही मन अवश्य निश्चय किया था कि यदि सचमुच यह सुन्दरी इसी बुड्ढे की लड़की है तो विलक्षण विधाता ने मानो पत्थर से नवनीत पैदा किया है !

तीसरा परिच्छेद

निदान, बेचारा युवक अपने भाग्य पर भरोसा रख कुल्हाड़ा हाथ में लेकर पेड़ काटने लगा और इन्दुमती उसके पास ही खड़ी खड़ी टकटकी लगाये उसे देखने लगी। दो ही चार बार के टाँगा चलाने से उस युवक के अंग अंग से पसीने की बूँदें टपकने लगीं और वह इतने जोर जोर से साँस लेने लगा जिससे यह जान पड़ता था कि यदि यों ही घंटे दो घंटे यह टाँगा चलावेगा तो अवश्य ही अपनी जान से हाथ धो बैठेगा। उसकी ऐसी दशा देख, इन्दुमती ने उसके लिये फल और जल लाकर तथा आँखों में आँसू भरकर कहा, "सुनो जी, जरा ठहर जाओ, देखो, यह फल और जल मैं लाई हूँ सो इसे खा लो और जरा ठंडे हो लो, तो फिर पेड़ काटना; छोड़ो हटो, मान जाओ।"

युवक ने उस कुमारी की प्रेम भरी बातों को सुनकर कहा— "सुन्दरी, मैं सच कहता हूँ कि तुम्हारा मुँह देखने से मुझे इस परिश्रम का कष्ट जरा भी नहीं व्यापता। यदि तुम यों ही मेरे सामने खड़ी रहो, तो मैं बिना अन्न जल किये ही सारे संसार के पेड़ काटकर रख दूँगा। और सुनो तो सही, तुम अपने क्रोधी पिता की बातें तो याद करो। वरन् क्यों नाहक तुम मेरे लिये अपने प्राणों को संकट में डालती हो ! क्योंकि यदि वे हमारी तुम्हारी बातें सुन लेंगे तो क्या

होगा ! और जो मैं सुस्ताने लगूँगा तो लकड़ी कौन काटेगा ? क्योंकि जब वे देखेंगे कि पेड़ नहीं कटा, तो कैसा उपद्रव करेंगे ! इसलिये हे सुशीले ! तुम मुझे मेरे भाग्य पर छोड़ दो और जलपान करने का नाम भी न लो ।"

युवक की ऐसी करुणा भरी बातें सुनकर इन्दुमती की आँखों से आँसू बहने लगे। उसने बरजोरी युवक के हाथ से कुठार ले लिया और कहा, "चाहे कुछ भी हो, पर तुम जरा तो ठहर जाओ और मेरे कहने से मेरे लाये हुए फल खाकर जरा दम ले लो। तब तक तुम्हारे बदले मैं लकड़ी काटती हूँ ।"

इस पर युवक ने बहुत समझाया, पर वह न मानी और अपने सुकुमार हाथों से कुठार उठाकर पेड़ पर मारने लगी। तब युवक ने जल्दी-जल्दी उसके बहुत कहने से कई एक फल खाकर दो घूँट जल पिया। इतने ही में हाथ में नंगी तलवार लिये हुये वह बुड्ढा कुटी से निकल कड़ककर युवक से बोला—

"क्यों रे नीच ! तेरी इतनी बड़ी सामर्थ्य कि आप तो बैठा-बैठा सुस्ता रहा है और मेरी लड़की से पेड़ कटवाता है ? रह दुष्ट, मैं अभी तेरा सिर काटता हूँ ।" फिर इन्दुमती की ओर घूमकर बोला—"क्यों री ढीठ ! तैंने मेरे मना करने पर भी इस दुष्ट से बात-चीत की ! रह जा, मैं अब तेरा भी वध करता हूँ ।"

बुड्ढे की बातें सुनकर युवक उसके पैरों पर गिर पड़ा और कहने लगा, "महाशय, इस बेचारी का कोई अपराध नहीं है, इसलिये आप इसे छोड़ दीजिए और जो कुछ दंड देना हो वह मुझे दीजिए।"

उन दोनों की ऐसी बातें सुनकर बुड्ढे ने कहा,—"अच्छा, आज तो मैं तुम दोनों को छोड़े देता हूँ। पर देखो, फिर यदि मेरी बातों का ध्यान न रक्खोगे तो तुम दोनों मारे जाओगे ।"

इतना कह कर बुड्ढा कुटी में चला गया और वे दोनों एक दूसरे का मुँह देखने लगे। इन्दुमती बोली कि,—"घबराओ मत, मेरे रहते तुम्हारा बाल भी बाँका न होगा।" और युवक ने कहा, "तुम क्यों व्यर्थ मेरे लिये कष्ट सहती हो। इसलिये जाओ, तुम कुटी में जाओ।" पर इन्दुमती उसके मुँह की ओर उदासी से देखने लगी और वह कुठार उठाकर पेड़ काटने लगा।

इतने ही में फिर बाहर निकलकर बुड्ढा बोला,—"ओ छोकरे! संध्या हुई, अब रहने दे; पर देख, कल दिन भर में जो तूने सारा पेड़ न काट डाला तो देखियो कि मैं क्या करता हूँ। और सुनती है री इन्दुमती! तू इसे कुटी में ले जाकर सड़े गले फल खाने को और गँदला पानी पीने को दे। परन्तु सावधान! तेरे मुख से एक अक्षर भी न निकलने पावे। और सुन बे लड़के! ख़बरदार, जो तू ने इससे कुछ भी बातचीत की तो मैं तुझे जीता न छोड़ूंगा।" यह कह कर बूढ़ा पहाड़ी पगडंडी से गंगातट की ओर उतरने लगा और उसके जाने पर इन्दुमती मुस्कुराकर युवा का हाथ थाम्हें हुई कुटी के भीतर गई और वहाँ जाकर उसने पिता की आज्ञा मेटकर सड़े गले फल और गँदले पानी के बदले अच्छे अच्छे मीठे फल और सुन्दर साफ पानी युवक को दिया। और युवक के बहुत आग्रह करने पर दोनों ने साथ बैठकर एक ही पत्तल पर फलाहार किया। फिर वे दोनों बुड्ढे के आने में देर समझ, बाहर चाँदनी में एक साथ ही चट्टान पर बैठ कर बातें करने लगे।

चौथा परिच्छेद

आधी रात जा चुकी थी और वन में चारों ओर भयानक बनैले जंतुओं के गरजने की ध्वनि फैल रही थी। उस समय चार

आदमी हाथ में तलवार और बरछा लिये हुये उस कुटी के चारों ओर पहरा दे रहे थे। कुटी से थोड़ी ही दूर पर एक ढालुआँ चोटी पर दस-बारह आदमी बैठे बातें कर रहे थे। चलिये पाठक! देखिये, ये लोग क्या-क्या बातें करते हैं। अहा! यह देखिये! इन्दुमती का पिता एक चटाई पर बैठा है और उसके सामने दस-बारह आदमी हाथ बाँधे हुए जमीन में बैठे हैं। थोड़ी देर तक सन्नाटा रहा, फिर बूढ़े ने कहा—

"सुनो भाइयो! इतने दिनों पीछे परमेश्वर ने हमारा मनोरथ पूरा किया। जो बात पहले एक प्रकार से अनहोनी जान पड़ती थी, सो नारायण की दया से आज आपसे आप ही हो गई। यह परमेश्वर ने अच्छा किया, नहीं तो बेचारी इन्दुमती का बेड़ा पार कैसे लगता! देखो, भाइयो! जिस युवक की रखवाली के लिये कल तीसरे पहर मैंने तुम लोगों से कहा था, वह अजयगढ़ का राजकुमार, या यों कहो कि अब राजा है। इसका नाम चन्द्रशेखर है। इसके पिता राजशेखर को उसी बेईमान काफिर इब्राहीम लोदी ने दिल्ली में बुलाकर विश्वास-घात करके मार डाला था; तब से यह लड़का इब्राहीम के घात में लगा था। अभी थोड़े दिन हुये, जो बाबर से इब्राहीम की लड़ाई हुई है, उसमें इसी चन्द्रशेखर ने भेष बदल और इब्राहीम की सेना में घुस कर उसे मार डाला है। यह बात कहीं इब्राहीम के एक सेनापति ने देख ली और उसने चन्द्रशेखर का पीछा किया। निदान, यह बेचारा भागा और कई दिनों पीछे इसने उस सेनापति को द्वन्द्व युद्ध में मार और अपने घोड़े को गँवा, राह भूलकर अपने राज्य की ओर न जाकर इस ओर आ पड़ा और कल मेरी कन्या का अतिथि बना। आज उसने यह सब कोरा जलपान करते-करते इन्दुमती से कहा है, जिसे मैंने आड़ में खड़े होकर सुना है। मैंने यह भली भाँति जान

लिया है कि वे दोनों एक दूसरे को जी जान से चाहने लगे हैं। इसलिये इस बात के अतिरिक्त और क्या कहा जाय कि परमेश्वर ही ने इन्दुमती का जोड़ा भेज दिया है और साथ ही उस दयामय ने मेरी भी प्रतिज्ञा पूरी की।"

इतना सुनकर सभों ने जयध्वनि के साथ हर्ष प्रकट किया, और बूढ़ा फिर कहने लगा—"मेरी इन्दुमती अब सोलह वर्ष की हुई, अब उसे कुँवारी रखना किसी तरह उचित नहीं है, और ऐसी अवस्था में, जब कि मेरी प्रतिज्ञा भी पूरी हुई और इन्दुमती के योग्य सुपात्र वर भी मिला जिसे इन्दुमती ने भी पसन्द किया है।"

"भाइयो ! देखो, स्त्री के लिये इससे बढ़कर और कौन बात सुख देनेवाली है ? मैंने जो पहले चन्द्रशेखर को देख इतना क्रोध प्रकट किया था, उसका आशय केवल यही था कि यदि उन दोनों में सच्ची प्रीति का अंकुर जमेगा तो दोनों का ब्याह कर दूँगा, और जो ऐसा न हुआ तो युवक आप डर के मारे भाग जायगा। परन्तु यहाँ तो परमेश्वर को इन्दुमती का भाग्य खोलना था, और ऐसा ही हुआ भी। बस, अब कल ही मैं दोनों का ब्याह करके हिमालय चला जाऊँगा और तुम लोग वर-कन्या को उनके घर तक पहुँचाकर अपने अपने घर जाना। बारह वर्ष तक जो तुम लोगों ने तन, मन और धन से मेरी सेवकाई की है, इसका ऋण सदा मेरे सिर पर रहेगा और जगदीश्वर इसके बदले में तुम लोगों के साथ भलाई करेगा।"

पाँचवाँ परिच्छेद

अहा ! प्रेम ! तू धन्य है ! जिस इन्दुमती ने आज तक देवता की भाँति अपने पिता की सेवा की, और भूल कर भी कभी उसकी आज्ञा न टाली, आज वही प्रेम के फन्दे में फँसकर अपने

प्यारे पिता की आज्ञा का उलटा बर्ताव करती है ! वृद्ध ने लौट कर क्या देखा कि दोनों कुटी के पिछवाड़े चाँदनी में बैठे हुये आपस में बातें कर रहे हैं। यह देखकर वह मन ही मन प्रसन्न हुआ और कुटी में आकर सो रहा। पर हमारे नये दोनों प्रेमियों ने बातों ही बातों में वह रात बिता दी। सबेरा होते ही युवक कुठार ले लकड़ी काटने लगा, और इन्दुमती सारा काम छोड़कर खड़ी खड़ी उसके मुख की ओर देखने लगी। थोड़ी ही देर में युवक के सारे शरीर से पसीने की बूँदें टपकने लगीं और घाम के ताप से चेहरा लाल हो आया। इतने ही में वृद्ध ने आकर गरज कर कहा, ओ लड़के ! बस, पेड़ पीछे काटियो, पहिले जो लकड़ियाँ कटी हैं, उन्हें उठाकर कुटी के पिछवाड़े ढेर लगा दे। इतना कहकर बुड्ढा चला गया और युवक लकड़ी उठा उठाकर कुटी के पिछवाड़े ढेर लगाने लगा। उसका इतना परिश्रम इन्दुमती से देखा न गया और बड़े प्रेम से वह उसका हाथ थामकर बोली—"ठहरो, बस करो; अब बाकी लकड़ियाँ मैं रख आती हूँ ! हाय, तुम्हारा परिश्रम देखकर मेरी छाती फटी जाती है, तुम राजकुमार होकर आज लकड़ी ढोते हो ! ठहरो, जरा तुम सुस्ता लो।"

युवक ने मुस्कराकर कहा—"सावधान, तुम ऐसा काम भूलकर भी न करना। तुम अपने पिता का क्रोध याद करो। यदि अब की बार उन्होंने तुम्हें लकड़ी उठाते या हमसे बोलते देख लिया तो सर्वनाश हो जायगा।"

इतना सुनकर इन्दुमती की आँखों में आँसू भर आए और वह बोली—" मेरे पिता का तो बहुत अच्छा स्वभाव था, परन्तु तुम्हें देखते ही एकदम से ऐसा बदल क्यों गया ? वह तो ऐसे नहीं थे, पर हाय ! अब उन्हें क्या हो गया ! आजतक मैंने उन्हें कभी क्रोध

करते नहीं देखा था। ख़ैर जो कुछ हो, पर तुम ज़रा ठहरो, और दम ले लो; तब तक मैं इन लकड़ियों को फेंक देती हूँ।"

युवक ने कहा—"मैं क्या राक्षस हूँ कि अपनी आँखों के सामने तुम्हें लकड़ी ढोने दूँगा! हटो, ऐसा नहीं होगा। तुम सच जानो कि तुम्हें देखने से मुझे कुछ भी कष्ट नहीं जान पड़ता।" इस पर इन्दुमती ने उदास होकर कहा—"हाय, तुम्हारा मुख देखकर मेरे हृदय में ऐसी वेदना होती है कि क्या कहूँ! हाय, जो तुम मेरे हृदय का हाल जानते तो ऐसा कभी न कहते।"

इधर तो उन दोनों नये प्रेमियों में ये बातें हो रही थीं और उधर पीछे लता-मंडप की ओट में खड़े खड़े वृद्ध ने दोनों की बातें सुनकर मन ही मन बड़ा सुख माना। पर उन दोनों के प्रेम की अन्तिम परीक्षा करने के अभिप्राय से हाथ में नंगी तलवार ले और सामने आ, गरजकर कहा,—"इन्दुमती! कल से आज तक तैंने मेरी सब बातों का उलटा ही बर्ताव किया। कल जो तू ने इसके साथ बैठकर फलाहार किया था और रात को इसके साथ चाँदनी में घूमी थी, उसकी बात यादकर, और तू फिर इससे बातें करती है! देख, अब मैं तेरा सिर काटता हूँ।" यह कहकर ज्योंही वह इन्दुमती की ओर बढ़ा कि चट वह युवक उसके पाँवों पर गिरकर कहने लगा—"महाशय, आप अपने क्रोध को दूर करने के लिये मुझे मारिये, क्योंकि सब दोष मेरा है और मैं ही दण्ड के योग्य हूँ। आप निश्चय जानिये कि यह बालिका सब तरह निरपराधिनी है। लीजिए, मेरा सिर आप के पैरों पर है। इसे काट लीजिए; पर मेरे सामने एक निरपराध लड़की का प्राण न लीजिये।" यह सुन, वृद्ध ज्योंही अपनी तलवार युवक की गर्दन पर रखना चाहता था कि इन्दुमती पागल की तरह उस बुड्ढे के चरणों पर गिर, बिलख बिलखकर रोने और कहने लगी,—"पिता, पिता, जो आप को

मारना ही है तो पहिले मेरा सिर काट लीजिए, पीछे फिर आपके जो जी में आवे सो करियेगा।"

इतना सुनकर बुड्ढे ने अपने हाथ की तलवार दूर फेंक दी और दोनों को उठा गले लगाकर कहा,—"बेटी इन्दुमती! तू धीरज धर; और प्रिय वत्स चन्द्रशेखर! तुम भी अपने चित्त से सब खेद दूर करो। क्योंकि मैंने केवल तुम दोनों के प्रेम की परीक्षा लेने के लिए ही इस प्रकार क्रोध का भाव दिखलाया था। यदि तुम दोनों का सच्चा प्रेम न होता तो तुम दोनों क्यों एक दूसरे के लिए जान पर खेलकर क्षमा चाहते! और सुनो चन्द्रशेखर! मैंने छिपकर तुम्हारी सब बातें सुनी हैं। अतएव अब तुमसे बढ़कर संसार में दूसरा कौन राजकुमार है, जो इन्दुमती का वर बनाने योग्य होगा! सुनो युवराज! देवगढ़ मेरे ही पुरुषाओं की राजधानी थी। जब कि इन्दुमती केवल चार ही वर्ष की थी, इब्राहीम ने मेरे नगर को घेरकर मुझसे यह कहलाया कि, या तो अपनी स्त्री (इंदुमती की माँ) को मेरे पास भेज दो, या जंग करो। यह सुनकर मेरी आँखों में खून उतर आया और उसके दूत को मैंने निकलवा दिया। फिर क्या पूछना था! देखते-देखते सारा नगर हत्यारों के भीषण अत्याचार से श्मशान हो गया, मेरी स्त्री ने आत्म-हत्या की, और मैं उससे बदला लेने की इच्छा मन में रख और चार वर्ष की इस अबोध लड़की को ले, इस जंगल में आकर रहने लगा। मेरे कृतज्ञ सरदारों में से पचास आदमियों ने अपना सर्वस्व त्यागकर मेरा साथ दिया और आज तक वह सब मेरे साथ हैं। उन्हीं लोगों में से कई आदमियों को तुमने कल देखा था! वत्स चन्द्रशेखर! देवगढ़ से भागकर और इस जंगल में आकर रहते, आज मुझे बारह वर्ष हो गये, पर ऐसी सावधानी से मैंने इस लड़की का लालन-पालन किया और इसे पढ़ाया-लिखाया

कि जिसका सुख तुम्हें आगे चलकर आपही इसकी सुशीलता से जान पड़ेगा। और देखो, मैंने इसे ऐसे पहरे में रक्खा कि कल के सिवा कभी इसने मुझे छोड़ किसी दूसरे मनुष्य की सूरत तक न देखी। मैंने राजस्थान के सभी राजाओं से सहायता माँगी और उनसे यह कहलाया कि जो कोई उस इब्राहीम का सिर काट लावेगा, उसे मैं अपनी लड़की ब्याह दूँगा। पर हा! किसी क्षत्रिय वीर ने मेरी बात न सुनी और सभी मुझे पागल समझकर हँसने लगे। अंत में मैंने दुखी होकर यह प्रतिज्ञा की कि, जो कोई इब्राहीम को मारेगा, उसी के साथ मेरी इन्दुमती ब्याही जायगी। किन्तु यदि ऐसा न हुआ तो यह जन्म भर कुँवारी ही रहेगी। सो परमेश्वर ने तुम्हारे हृदय में बैठकर मेरी प्रतिज्ञा पूरी की। अतएव अब यह इन्दुमती तुम्हारी ही हुई और आज मैं बड़े भारी बोझ को उतारकर आजन्म के लिये हलका हो गया।"

इतना कहकर उस बुड्ढे ने सीटी बजाई और देखते देखते पचास जवान हथियारों से सजे घोड़ों पर सवार आ खड़े हुए। उनके साथ सजे हुए घोड़े चन्द्रशेखर और इन्दुमती के लिए थे। उसी समय बुड्ढे ने उन दोनों का विवाह करके उन वीरों के साथ विदा किया और आप हिमालय की ओर चला गया।

अहा! जो इन्दुमती इतने दिनों तक 'वनविहंगिनी' थी' वह आज अन्तःपुर के पिंजरे में बंद होने के लिए चली। सच है, परमेश्वर की महिमा का कौन पार पा सकता है!

———

दया का फल

[माधवप्रसाद मिश्र]

(१)

जेठ का महीना है, अभी दोपहर होने में देर है। धूप की तेजी और लूओं के चलने से धरती तत्ते तवे की तरह बन गई है। घर से बाहर निकलना लोगों के लिये कठिन हो रहा है। जङ्गल में मनुष्य तो क्या, कोई पशु-पक्षी भी कहीं आता-जाता दिखाई नहीं देता। ऐसे समय में एक साँड़नी सवार तेजी से उस रास्ते पर चला जा रहा है जो अलवर होता हुआ सीधा जयपुर की तरफ गया है। उसकी सांड़नी देखने में दुबली सी जान पड़ती है, पर चलने में हवा से बातें कर रही है। यदि साँड़नी सवार अपने मजबूत हाथों से उसकी नकेल को खींचे न रहता तो शायद वह पल भर में कहीं से कहीं जा पहुँचती।

साँड़नी-सवार के फटे-पुराने कपड़े से यही मालूम होता है कि वह कोई गरीब आदमी होगा। पर उसके विशाल नेत्र, सुडौल बदन और शानदार चेहरे को देखकर कोई बुद्धिमान् पुरुष उसको मामूली आदमी नहीं समझ सकता। वह एक ही दिन में सफर की कई मंजिल तय करके वहाँ तक पहुँचा है। भूख से उसका कलेजा फट रहा है। प्यास से होंठ सूख रहे हैं। धूप में चलना अब उसे असह्य मालूम होता है। इसलिये रास्ते की तकलीफ से थककर इधर-उधर वह वृक्षों का आश्रय खोज रहा है।

अलवर से तीन कोस पर वह मार्ग, जिस पर वह जा रहा था, एक ऐसे चौरस्ते से मिलता था जिसके पास एक "जोहड़" के किनारे

कुछ जाल के पेड़ खड़े थे और उनमें मुसाफिरों को जल पिलाने के लिये एक विधवा ब्राह्मणी ने प्याऊ लगा रखी थी। कारण, तालाब में जो जल रह गया था वह सिर्फ पशुओं के पीने लायक था। सवार ने वहीं ठहरना मुनासिब समझ साँड़नी को रोक कर बैठा दिया और उतरकर उसे एक पेड़ से बाँध प्याऊ के पास गया।

(२)

प्याऊ के दो हिस्से थे। एक में कुछ मिट्टी के घड़े ठंडे जल से भरे जमीन में गाड़े हुये थे जिनसे जल निकाल निकालकर ब्राह्मणी आने-जाने वाले मुसाफिरों को पिलाती, और दूसरे में मिट्टी के दो तीन बासन रखे हुये थे और एक चटाई बिछ रही थी जिस पर कैर और आक के कुछ फूल इस अभिप्राय से रखे थे कि दोपहर के समय पूजा करती बेर ब्राह्मणी नर्मदेश्वर पर चढ़ावे, जो पास ही एक मिट्टी के गमले में, जिसमें तुलसी का पेड़ लगा था, पधराये हुए थे। यह प्याऊ झाड़ी के "ढीखरों" (काँटों) से ऐसी खूबसूरत और इस समय के उपयोगी बनी थी कि इसमें बैठने से श्रान्त पथिक को बड़ा आनन्द मिलता था। साँड़नी सवार ने देखा कि प्याऊ में एक साठ-सत्तर वर्ष की बुढ़िया जल के घड़ों के पास एक लोटा और एक बाँस की नाली लिये इस गरज से बैठी है कि आनेवालों को जल पिलाये। उसने बुढ़िया से "राम राम" करके पूछा कि "बुढ़िया माई! तेरी जात क्या है?"

"बेटा! मेरी जात क्या तूने मेरे इस काम से नहीं पहचानी? ब्राह्मणी के सिवा जल पिलाने का काम और कौन करती है?"

"क्यों नहीं? कर तो और भी सकते हैं।"

"हाँ; कर सकते हैं, पर करता कौन है? सबसे सस्ते इस कल-

युग में बिराह्मणी ही हैं।"—इतना कहकर ब्राह्मणी ने एक लम्बी साँस ली जिससे साँड़नी-सवार ने यह समझकर कि वह अपनी उपस्थित दशा से दुःखित है, कहा—

"दादी! यही बात नहीं है। दूसरी जातवाली के हाथ का जल सब कोई नहीं पी सकते हैं।"

"नहीं क्यों? सिक्के तक का तो बड़े बड़े क्षत्री पानी पी जाते हैं! पर भाई! अपनी भी जात बता दे।"

"जाति—राजपूत है।

"अच्छा, तो भीतर आ जा। ठण्डा होकर पहले चटाई पर बैठकर साँस ले ले, पीछे ठण्डा पानी पीना।"

राजपूत झुककर प्याऊ के छोटे द्वार से अन्दर चला गया जहाँ इस धूप और लू की तेजी में भी बहुत ठण्डक हो रही थी। विशेषकर इस बात से कि प्याऊ के "ढीखरों" पर बुढ़िया ने थोड़ी देर पहले तालाब का पानी छिड़क दिया था जिससे खस की टट्टियाँ मात हो रही थीं और ठण्डी ठण्डी हवा उनमें से छन छनकर आ रही थी। राजपूत की जान में जान आ गई और उसने चाहा कि चटाई पर लोट लगावे, पर पीछे बिना पूछे लेटना उचित न समझकर वह रुक गया और बुढ़िया से उसने पूछा—

"दादी! यदि नाराज न हो तो थोड़ी देर इस चटाई पर लेट जाऊँ?"

"अच्छा भाई! लेट लगा ले, पर मेरे शिवजी की ओर पैर मत करना और न पूजा के फूलों को दबाना।"

"ऐं! यहाँ क्या मन्दिर है? यहाँ शिवजी कहाँ से आये।"

"आए कहाँ से, मेरे ससुराजी दे गये थे। मरते समय कह गये थे, बहू! तुम पण्डित की बेटी थी और पण्डितों ही के यहाँ आई थी।

मेरा विद्वान् बेटा तुम्हें जवानी ही में विधवा कर गया और मैं अब अनाथ करके जाता हूँ। पढ़कर भी जन्म भर दरिद्र ही रहा। जेवर तक नहीं बनवा सका जो तुम्हारे इस समय काम आते। मुझ गरीब ब्राह्मण के पास कुछ नहीं है, बेटी! एक यह नर्मदेश्वर की मूर्ति है जिसकी सदा मैं पूजा करता आया। इस पर जल चढ़ाकर रोटी खाना और अपने बाल-बच्चों को किसी तरह पाल-पोष लेना। एक न एक दिन फिर वही ठाठ हो जायगा।"—पुरानी बातों के याद होने से बुढ़िया की आँखें तर हो गईं और उसने आँसुओं को इस खूबी के साथ शीघ्रता से पोंछ डाला जिससे राजपूत उसके हृदय की कमजोरी को देखने न पावे। किन्तु राजपूत की तीक्ष्ण दृष्टि से यह दृश्य बच नहीं सका। उसने भक्ति भाव से उस देव मूर्ति को प्रणाम किया और फूलों को गमले के ऊपर रख दिया। कमर से तलवार खोलकर प्याऊ की लकड़ियों पर रख दी जो वहाँ खूँटियों का काम देती थीं और आप वहाँ इस तरह लेट गया जिससे देवता की अवज्ञा न हो।

(३)

कुछ देर आराम करके राजपूत बोला "दादी! तुम्हारे पास कुछ खाने के लिये भी है। यही इच्छा होती है कि खाकर पानी पीऊँ।"

"बेटा! मेरे पास खाने के लिये कैरों का "बाड़वा" है या जालों की "पीतह" है। कई दिनों से इन्हीं को खाकर जिन्दगी के दिन पूरा करती हूँ। कल एक मुसाफिर चने दे गया था। कुछ तो मैंने लड़के को दे दिये और कुछ बच रहे हैं। उनको तू चबाकर पानी पीले। वे उस हँड़िया में रखे हैं जो तेरे सिरहाने की ओर रखी है।"

"तब क्या तुम गाँव से मेरे लिये कुछ मोल नहीं ला सकतीं?"

"ला क्यों नहीं सकती ? पर मेरे पास मोल देने को क्या धरा है ?"

"दाम मैं दे दूँगा।"

"बहुत अच्छा, पर भाई ! तब तक चने चाब कर पानी पी लेता तो कलेजा ठण्डा हो जाता।"

"दादी ! इस जेठ के महीने में ब्राह्मण को खवाना तो दूर रहा, उलटा क्या उनकी गाँठ का खावे ?"

"ना भाई ! इसमें डर क्या है ? बड़े बड़े राजा महाराजा भी ऋषि-मुनियों के यहाँ प्रसाद लिया करते थे। न ले तो यह तेरी खुशी।"

इतना कहकर वह उठी और लोटा माँज-धोकर पवित्र जल से भर शिवमूर्ति पर चढ़ा "बं बं" का शब्द करने लगी। राजपूत बैठा ही रह गया और आनन्द से उधर देखने लगा। बुढ़िया ने "नमः शिवाय" कह कहकर सब फूल चढ़ा दिये और फिर वह एक माला लेकर बहुत देर तक शिव-मंत्र जपती रही। पीछे पृथिवी में सिर टेक कर मन ही मन कुछ प्रार्थना की और फिर प्रणाम के साथ "बं बं" कह कर उठ खड़ी हुई।

बुढ़िया की पूजा पूरी हो गई, पर राजपूत फिर चटाई पर नहीं लेटा। वह उस शिवलिङ्ग की ओर ध्यान लगाकर न जाने क्या सोचने लगा। प्याऊवाली ने सन्नाटा देखकर फिर बात छेड़ी।—

"बेटा ! राजपूतों में तेरी कौन सी खांप है ?"

"कछवाहा।"

"कछवाहा—जिसमें जयपुर के महाराज रामसिंह हैं।"

"हाँ उसी का। दादी ! तुम रामसिंह को क्या जानती हो ?"

"ले, ऐसा कौन है जो जयपुर के पर-दुःख-भञ्जनहार रामसिंह को नहीं जानता हो ?"

"भला, वह किस तरह का है ?"

"मैंने क्या उसकी सीर खाई है जो यह बताऊँ कि वह किस तरह का है।"

"तो फिर उसको पर-दुःखभञ्जनहार क्यों कहती हो?"

"मैं क्या, सब लोग यही कहते हैं कि वह राजा वीर विकरमाजीत की तरह दीन दुखिया लोगों की खबर लेने को दिन रात घूमता है।"

"कभी तुम्हारे पास भी आया है?"

बुढ़िया ने लम्बी साँस लेकर कहा—"मेरे ऐसे भाग्य कहाँ जो वह मेरे पास आता?"

"अच्छा, तुम्हारे पास आवे तो तुम उससे क्या माँगो?"

"जो मन में आवे।"

"और जो न दे?"

"नहीं क्या, रामसिंह मिलने पर जरूर ही दे।"

"और जो माँगने पर दे ही नहीं।"

"कुएँ में पड़ो, मैं क्या निगोड़े रामसिंह के भरोसे बैठी हूँ? मेरा भोला भण्डारी शिवजी तो कहीं नहीं गया है।"

"शिवजी कौन?"

"यही जो तेरे साम्हने, जिनकी पूजा करती हूँ। मरने के पास पहुँच गई, और मैं और मेरे दोनों बेटे पेट भरकर खाने को भी नहीं पाते, पर तो भी यही भरोसा है एक न एक दिन भोले भण्डारी की मेहर होकर ही रहेगी।"

"तब क्या होगा?"

"तब क्या होगा? धपाई की रोटी मिलने लगेंगी। लड़कों का विवाह"—कहती बुढ़िया रुक गई।

"हाँ, लड़कों का विवाह—क्या? रुक क्यों गई? क्या तुम्हारे लड़कों का विवाह अभी तक नहीं हुआ है?"

"ना, गरीब का विवाह कौन करता है ? दोनों लड़के बड़े सरूप हैं । राम लिछमन की सी जोड़ी है, पर धन के बिना कोई बात भी नहीं करता !"

"बेटों के विवाह की इतनी चिन्ता क्यों करती हो ? नारायण का भजन क्यों नहीं करतीं ?"

"नारायण का भजन करती हूँ पर बेटों के ब्याह के बिना आगे वंश में पीढ़ी किस तरह चलेगी ?—यही चिन्ता है। मेरे सुसराजी अपने माँ-बाप का श्राद्ध तर्पण किया करते । अब हमको जल कौन देगा ?"

"बेटों की उमर क्या है ? और क्या काम करते हैं ?"

"उमर घनी नहीं हुई है, सारी तीस चालीस वर्ष की है। एक तो प्याऊ में पानी भरे है और एक दसोद के स्वामीजी, जो अलवर में महाराज के पास रहैं हैं, उनकी नौकरी करे है ।"

"तुम्हारा वह लड़का अलवर के महाराज से मिलता है कि नहीं ?"

"हर रोज मिले है ।"

"उसका महाराज अलवर ने विवाह नहीं करवाया ?"

"विवाह तो न कोई राजा करावे और न महाराजा। लक्ष्मी जी की कृपा हो तो इसी समय हो जाय। घर का घर हो, जमीन हो, कूआँ हो, गाँव का अच्छा जमीन्दार हो तो एक दिन में सब हो जाय ।"

"तो तुम्हारा राजा किसी काम का नहीं। जिससे मिलने पर दुखिया का दर्द दूर न हो, अर्थी की इच्छा पूरी न हो, वह राजा किस काम का ?"

"खबरदार ! जो हमारे महाराज की निन्दा की। राजा तो

हमारा देवता है, घना ही अच्छा है। पर बावड़ा किस किसके दुख दूर करे ? लोगों के दुःखों का भी कुछ ठिकाना रहा हो।"

राजपूत का मन बुढ़िया की बातों में ऐसा लगा कि भूख-प्यास की उसे सुधि ही न रही। उसकी राज-भक्ति की बात से वह इतना खुश हुआ कि कुछ देर पहले जिस चेहरे पर चिन्ता सी छा गई थी वह प्रसन्नता से खिल उठा। उसने बुढ़िया से कहा कि "अलवर के महाराज से मेरी जान-पहचान है। मैं तुम्हारे लिए कुछ सिफारिश करूँगा पर पहले तुम मेरे खाने-पीने का प्रबन्ध कर दो। लो यह अशर्फी ले जाओ और इसमें से एक रुपये का मेरे लिये कुछ ले आओ। चलते समय तुम्हें भी कुछ दिया जायगा।" इसके बाद उसने अपने फटे अङ्गरखे की जेब से एक मोहर निकालकर उसके हाथ पर रख दी और जल्दी लौट आने को उससे कहा।

(४)

बुढ़िया बेचारी ने मोहर का तब तक खाली नाम ही सुना था आज अपनी हथेली पर मोहर चमकती देखकर वह चौंक पड़ी और बड़ी दिलेरी के साथ कहने लगी—"तू मुझे बिपद में पड़ी देखकर मोहर का लोभ दिखाता है, पर तुझे यह खबर नहीं है कि मैं कितने बड़े घर की बहू-बेटी हूँ। मैं तेरे जैसे डकैत की मोहर लेकर जीने के बदले भूखी मर जाना अच्छा समझती हूँ। तुझे भूख है, तो जो कुछ साग पात मेरे पास है वह खा ले और अपना रास्ता ले। तेरे निकट मोहर तो कौड़ी के समान है, क्योंकि तू कुछ कमाकर तो लाया ही नहीं, किसी मुसाफिर का गला काटकर लाया होगा। राम! राम! तुम लोगों को दया भी नहीं आती!"—यह कहके उसने मोहर फेंक दी।

राजपूत को उसकी बात से बड़ा आश्चर्य हुआ। बोला कि "दादी ! तुमने मुझे डकैत कैसे समझ लिया ?"

"तेरी सूरत और करतूत से।"

"सूरत में क्या डकैती का नाम खुदा हुआ है ?"

"क्यों नहीं ? पहरने को जिसके पास कपड़ा तक नहीं वह आदमी दो चार पैसों की जगह मोहर फेंकने लगे, तो लोग उसे क्या समझेंगे ? पागल या डकैत ? पागल तो तू दिखाई नहीं देता, इसलिये तुझे डकैत न समझा जाय तो क्या समझा जाय ? तुझे कुछ मोल ही मँगाना है तो दुअन्नी चुअन्नी कुछ दे दे। अपनी मोहर को अपने पास रहने दे।"

"तुम मुझ पर वृथा कलङ्क लगाती और मोहर लेने से डरती हो। मेरे पास दुअन्नी चअन्नी रुपया पैसा कुछ नहीं है सिर्फ मोहर ही हैं। पर सच कहता हूँ कि मैं किसी की चुराकर या कहीं डाका डालकर नहीं लाया हूँ।"

"ऐसा क्या तू रामसिंह है जो मोहर बाँटता फिरता है ? खाना है तो ले यह "बाडवा" खा ले और चने चबा कर पानी पीले। नहीं तो गाँव में जाकर पुकारती हूँ कि प्याऊ में एक धाड़ी आया हुआ है।" इस पिछली बात से राजपूत अपने मन में घबराया कि सचमुच बुढ़िया के कहने पर कहीं लोग धाड़ी समझकर उसे पकड़ न लें और कहीं अलवर न ले जावें। यदि ऐसा हुआ तो बहुत लज्जा की बात होगी। उसने सोच विचारकर बुढ़िया से कहा कि "अच्छा, तेरे पास जो हो सो ले आ।" और पीछे वह मुस्कराता हुआ उठा और जल से हाथ धो ब्राह्मणी के दिये हुये साग को एक तरफ बैठकर हँस हँसकर खाने लगा।

राजपूत—"सच कहता हूँ ऐसा स्वादिष्ट साग मैंने आज तक नहीं खाया।"

ब्राह्मणी—(हँसकर) "बेटा ! यह विदुर की भाजी है।"

रा०—"नहीं, यह साग अन्नपूर्णा का महाप्रसाद है।"

ब्रा०—"बेटा ! मैं पहले ही कह चुकी कि अन्नपूर्णा तो क्या आधा भी मेरे पास नहीं है।"

रा०—"बुढ़िया मा ! शङ्कर की पूजा कभी व्यर्थ नहीं होती।"

ब्रा०—"कभी नहीं, तू भी उसकी पूजा किया कर।"

रा०—"घर पर रहता हूँ तब किया करता हूँ। अच्छा, दादी ! तेरे बेटों का और तेरा नाम क्या है ?"

ब्रा०—"एक का नाम रामा और दूसरे का गोविन्दा और मेरा नाम नारायणी है। क्यों नाम क्यों पूछा ?"

रा०—"योंही !"

राजपूत ने अपनी जेब से एक किताब और एक अँगरेजी की कलम निकालकर पत्र लिखा और उसको एक खूबसूरत लिफाफे में बन्द करके जेब में रख लिया। पीछे कपड़ों को सँभाल कमर कस साँडनी पर सवार हो ब्राह्मणी को प्रणाम कर हवा हो गया।

(५)

दूसरे दिन सवेरे ८ बजे प्याऊ के पास एक रथ पहुँचा, जिसके पीछे पीछे दो घुड़सवार रक्षक की तरह चले आ रहे थे। बुढ़िया ने समझा कि किसी बड़े आदमी की स्त्री कहीं जा रही है, इसलिये वह उसकी कल्पित सुन्दरता को देखने की इच्छा से बाहर निकल आई। रथ वहीं पर खड़ा हो गया और सवारों ने बढ़कर पूछा कि "क्या प्याऊवाली नारायणी ब्राह्मणी तुम्हीं हो और क्या रामू और गोविन्द तुम्हारे ही बेटे हैं ?" ब्राह्मणी ने चकित होकर कहा कि

"हाँ।" उन दोनों ने उसके पैर छूकर प्रणाम किया और कहा कि—"महाराज ने तुम्हें याद किया है। फौरन हमारे साथ चलो।"

महाराज का नाम सुनकर वह घबरा गई और समझी कि किसी भेदिये ने सरकार में कल्ह की खबर पहुँचा दी होगी कि प्याऊवाली ने डकैत को अपने पास बैठा रखा था। इसलिये ये मुझे वहाँ पकड़कर ले जाते हैं। वह अपने विचारों में ऐसी उलझी कि कुछ उत्तर न देकर चुपचाप देर तक खड़ी रही। सवारों ने फिर कहा कि "क्या सोचती हो? चलती क्यों नहीं?" बुढ़िया ने हिम्मत करके पूछा कि "महाराज ने मुझे क्यों बुलाया है?" इसका जवाब उन्होंने यही दिया कि "हम क्या जानें? वहाँ चलने पर सब मालूम हो जायगा।" बुढ़िया की आँखों के सामने अँधेरा छा गया और भय से उसके चलते हुये पैर थर्राने लगे। वह सवारों के साथ किसी तरह पैदल चलने लगी। पर उन्होंने बतलाया कि उसे पैदल चलना नहीं पड़ेगा। रथ उसी के लिये आया है। सवारों के कहने से वह चुपचाप रथ में बैठ गई और विपद्मोचन भगवान् शंकर का स्मरण कर रोने लगी। यदि उसके चित्त में डकैत राजपूत की बातें भरी हुई न होतीं तो वह रथ में बैठने से बहुत ही खुश होती और अपने को धन्य मानती। कारण, उसे आजतक रथ में बैठने का मौका नहीं मिला था। पर वह तो यह समझे हुये थी कि वहाँ पहुँचते ही वह कैद की जायगी या उसे जुर्माना देना पड़ेगा। उस भोली ने एक बार भी नहीं बिचारा कि यदि महाराज कैद ही करते तो सवारी के लिये रथ क्यों भेजते?

(६)

अलवर के महाराज विनयसिंह जी मंत्री और सभासदों के साथ अपने महल की एक कक्षा में बैठे थे। चोबदार ने अर्ज की कि "प्याऊ

वाली नारायणी ब्राह्मणी हाजिर है।" हुक्म हुआ कि "आदर के साथ यहाँ ले आओ।" ब्राह्मणी जिस समय महाराज के सामने आई, उसके पैर काँप रहे थे और मुख पर पसीना आ गया था। महाराज ने उसे आदरपूर्वक बैठाया, पर तो भी उस भोली बुढ़िया ने भय से यही समझा कि अब विपद् आने में देर नहीं है।

अलवर-नरेश ने पूछा "तुम कहाँ रहती हो और तुम्हारा क्या नाम है?"

बुढ़िया ने लड़खड़ाती हुई जबान से कहा—"अन्नदाता! पावटे की प्याऊ में रहती हूँ और मेरा नाम नारायणी है।"

तुम्हारे "बेटों का क्या नाम है?"

"एक का नाम रामा और एक का गोविन्दा।"

"कल तुम्हारी प्याऊ में कोई ऐसा मुसाफिर ठहरा था जिसको तुमने खाने को दिया हो?"

"जी—जी—अ—हाँ—"

"जी जी क्या? डरो मत, साफ साफ कहो। भय का कोई कारण नहीं है।"

"जी, अ-अ-अन्नदाता जी! एक-एक आ-आदमी ठहरा था, जो-ओ पीछे से मालूम हुआ लुटेरा था"

"पीछे कैसे मालूम हुआ? निडर होकर बताओ। तुमको कुछ भय नहीं?"

"उसके पास सोने की मोहर थी जिनको वह कौड़ियों की तरह बर्तता था।"

अलवर-नरेश उसकी भोली बात सुनकर मुसकराये और समझ गये कि बुढ़िया के डरने का क्या कारण है। उन्होंने उसे धीरज देकर कहा "भोली बुढ़िया! जिसको तुम लुटेरा समझ रही हो

वह लुटेरा नहीं था। बड़े बड़े लुटेरों और बदमाशों का नाम मिटानेवाला जयपुर का महाराज था। आज मुझे उनका यह पत्र मिला है, जिसमें सुनिये, क्या लिखा है।—

"महाराव साहब !

"दैवयोग से आज मुझे उस प्याऊ में विश्राम करना पड़ा जो अलवर से तीन कोस पश्चिम चौरस्ते पर एक तालाब के किनारे है। उसमें एक नेकचलन, धर्म्म-परायण, दयावती बुढ़िया ब्राह्मणी रहती है जिसका नारायणी नाम है और वह रामू तथा गोविन्द की माता है। वह इतनी गरीब है कि उसे पेट भर खाने को भी नहीं मिलता तथापि वह अन्यायलब्ध द्रव्य ग्रहण करना नहीं चाहती। मेरी इच्छा थी कि मैं उसे इनाम की तरह कुछ अशर्फियाँ दूँ, परन्तु उस सच्ची ब्राह्मणी ने मुझे डकैत समझकर ख़ूब फटकारा और अशर्फियों को लेने से इनकार कर दिया। उसने मुझ पर दया की, मेरा सब तरह भोजनादि से सत्कार किया परन्तु जयपुर का महाराज समझकर नहीं, एक रास्ते चलता हुआ गरीब मुसाफिर जानकर। सहस्रों रूपये खर्च कर जयपुर के महाराजका आदर करनेवाले बहुत हैं। परन्तु दीनों पर दया करनेवाले इस ब्राह्मणी के समान कितने मनुष्य हैं? इस दुःख भरी दशा में भी बुढ़िया भगवान् आशुतोष पर पूरा भरोसा रखती है और उसे निश्चय है कि पार्वती-शंकर उसके दुःखों का अन्त अवश्य ही करेंगे। संसार में भगवान् का नाम कौन लेगा? क्षुर-धारा-सम-कठिन धर्म-पथ पर फिर कौन चलेगा? मेरी ओर से आप उस ग्राम का पट्टा, जिसमें वह रहती है, बुढ़िया के नाम कर दीजिये जिससे उसकी सन्तति को किसी तरह का कभी कष्ट न हो, और पाँच सहस्र रुपये नकद देकर उसे कह दीजिये कि वह अपने लड़कों का विवाह करवा ले जिससे उसके पवित्र वंश का विस्तार होवे।

उसको समझा देना कि यह जयपुर के महाराज की खातिर दारी का फल नहीं है, वरञ्च यह उसे देवादिदेव शंकर की अनन्य भक्ति का एक सामान्य पुरस्कार है जिनका वह नित्य पूजन करती है और जिनके सेवकों के सामने सैकड़ों ज़यपुराधीश भी कुछ वस्तु नहीं हैं। अस्तु, उस गाँव के बदले आप चाहे जयपुर का कोई गाँव ले लेना, चाहे उसका मूल्य ! पाँच सहस्र रुपये फौरन आपके पास पहुँच जायँगे। शास्त्रों में मैंने सुना है कि उसी राजा की प्रजा में धर्मात्मा और चरित्रवान् लोग होते हैं जो नृपति स्वयं धर्म और चरित्र का बल रखता हो। आपके लिये यह बड़े गौरव की बात है कि आपकी सामान्य प्रजा भी अपने कर्तव्य का इतना बल रखती है कि जिसके लिये मेरे ऐसे पुरुष को यह पत्र लिखना पड़ा। जगदीश्वर प्रत्येक राज्य की प्रजा में इसी प्रकार धर्म का प्रेम और कर्तव्य का ज्ञान उत्पन्न करे। यह चिट्ठी बुढ़िया की प्याऊ में बैठकर ही लिखी है। इच्छा थी कि उसी के द्वारा आप के पास पहुँचाऊँ। पर कदाचित् यह भोली बुढ़िया जो मुझे डकैत समझ रही है, फाड़कर फेंक देगी, इसी लिये डाक में छोड़ता हूँ।

आपका सन्मित्र
रामसिंह"

बुढ़िया के आने से पहले ही अलवर-नरेश पत्र को पढ़कर कई बार आँसू बहा चुके थे, पर इस बार भी पत्र पढ़ने के समय उनके नेत्र छलछल करने लगे। उन्होंने आँख पोंछकर ब्राह्मणी से कहा कि "देवि ! तुम धन्य हो, तुमने हमारी प्रजा का सन्मान कर दिया। महा-राजा बहादुर की आज्ञा के अनुसार मैं तुम्हारे गाँव का पट्टा तुम्हारे-नाम करता हूँ और एक गाँव अपनी ओर से देता हूँ जिससे मेरी प्रजा भी यह समझ ले कि महत्त्व की खबर होने पर अलवर दरबार

भी कृपण नहीं है। देवि! उस सर्वमान्य नरेश्वर के सत्कार करने का मुझे आज तक अवसर नहीं मिला। यह सौभाग्य तेरा ही है जो वे इतनी देर तक तेरे पास प्याऊ में टिके और तेरी सब तरह की बातें सुनीं। अस्तु, आज से तू अपने दुःखों का अन्त हुआ समझ। अब शीघ्र ही रामू और गोविन्द का विवाह भी हो जायगा।"

बुढ़िया महाराज की बात सुनकर आनन्द से मूर्छित हो गई। कहाँ तो वह कैद होने की कल्पना कर रही थी और कहाँ वह इस प्रकार मालामाल हो गई। ईश्वर की महिमा अपार है। इसका कोई पार नहीं पा सकता। कहते हैं कि बुढ़िया कई दिन तक बीमार रही और यदि महाराज उसका अच्छे वैद्यों से इलाज नहीं करवाते तो वह उस आनन्द की चोट से उसी दिन पूरी हो जाती। जो हो, थोड़े दिनों बाद, बुढ़िया के बेटों का विवाह हो गया और वह कई साल तक जीती रही। अन्त में पोते का मुँह देखकर उसने पैर पसारे। मरने से पहले वह यही सबको कहती रही कि--

"तुलसी जग में आय के सबसे मिलिये धाइ,
ना जाने किस देह में नारायण मिल जाइ?"

उसने कहा था

[पं० चन्द्रधर शर्म्मा, गुलेरी]

बड़े-बड़े शहरों के इक्के-गाड़ीवालों की जबान के कोड़ों से जिनकी पीठ छिल गई है, और कान पक गये हैं, उनसे हमारी प्रार्थना है, कि अमृतसर के बम्बूकार्टवालों की बोली का मरहम लगावें। जब

बड़े-बड़े शहरों की चौड़ी सड़कों पर घोड़े की पीठ को चाबुक से धुनते हुए, इक्केवाले कभी घोड़े की नानी से अपना निकट-सम्बन्ध स्थिर करते हैं, कभी राह-चलते पैदलों की आँखों के न होने पर तरस खाते हैं, कभी उनके पैरों की अँगुलियों के पोरों को चींथकर अपने ही को सताया हुआ बताते हैं, और संसार भर की ग्लानि, निराशा और क्षोभ के अवतार बने, नाक की सीध चले जाते हैं, तब अमृतसर में उनकी बिरादरीवाले तङ्ग चक्करदार गलियों में, हरएक़ लड्ढीवाले के लिए ठहरकर सब्र का समुद्र उमड़ाकर 'बचो खालसा जी !' 'हटो भाई जी !' 'ठहरना भाई !' 'आने दो लाला जी !' 'हटो बाछा[१] !'—कहते हुए सफेद फेंटों, खच्चरों और बत्तकों, गन्ने और खोमचे और भारेवालों के जङ्गल में से राह खेते हैं। क्या मजाल है, कि 'जी' और 'साहब' बिना सुने किसी को हटना पड़े। यह बात नहीं कि उनकी जीभ चलती ही नहीं; चलती है, पर मीठी छुरी की तरह महीन मार करती हुई। यदि कोई बुढ़िया बार-बार चितौनी देने पर भी लीक से नहीं हटती, तो उनकी वचनावली के ये नमूने हैं—हट जा जीणे जोगिए; हट जा करमा वालिए; हट जा पुत्ताँ प्यारिए; बच जा लम्बी वालिए। समष्टि में इनके अर्थ हैं, कि तू जीने योग्य है, तू भाग्योंवाली है, पुत्रों को प्यारी है, लम्बी उमर तेरे सामने है, तू क्यों मेरे पहिये के नीचे आना चाहती है ?—बच जा।

ऐसे बम्बूकार्टवालों के बीच में होकर एक लड़का और एक लड़की चौक की एक दूकान पर आ मिले। उसके बालों और इसके ढीले सुथने से जान पड़ता था, कि दोनों सिक्ख हैं। वह अपने मामा के केश धोने के लिए दही लेने आया था, और यह रसोई के लिए

---

१ बादशाह।

बाड़ियाँ। दूकानदार एक परदेशी से गुथ रहा था, जो सेरभर गीले पापड़ों की गड्डी को गिने बिना हटता न था।

"तेरे घर कहाँ हैं ?"

"मगरे में;—और तेरे ?"

"माँझे में;—यहाँ कहाँ रहती है ?"

"अतरसिंह की बैठक में; वे मेरे मामा होते हैं।"

"मैं भी मामा के यहाँ आया हूँ, उनका घर गुरु बाजार में है।"

इतने में दूकानदार निबटा, और इनका सौदा देने लगा। सौदा लेकर दोनों साथ-साथ चले, कुछ दूर जाकर लड़के ने मुसकराकर पूछा—"तेरी कुड़माई[१] हो गई ?"

इस पर लड़की कुछ आँखें चढ़ाकर 'धत्' कहकर दौड़ गई, और लड़का मुँह देखता रह गया।

दूसरे-तीसरे दिन सब्जीवाले के यहाँ, दूधवाले के यहाँ, अकस्मात् दोनों मिल जाते। महीनाभर यही हाल रहा। दो-तीन बार लड़के ने फिर पूछा, तेरी कुड़माई हो गई ?" और उत्तर में वही 'धत्' मिला। एक दिन जब फिर लड़के ने वैसे ही हँसी में चिढ़ाने के के लिए पूछा तो लड़की, लड़के की सम्भावना के विरुद्ध बोली—"हाँ, हो गई।"

"कब ?"

"कल; देखते नहीं, यह रेशम से कढ़ा हुआ 'सालू'[२]।"

लड़की भाग गई। लड़के ने घर की राह ली। रास्ते में एक लड़के को मोरी में ढकेल दिया, एक छावड़ीवाले की दिनभर की कमाई

---

१ मँगनी। २ ओढ़नी।

खोई, एक कुत्ते पर पत्थर मारा और एक गोभीवाले के ठेले में दूध उँड़ेल दिया। सामने नहाकर आती हुई किसी वैष्णवी से टकराकर अन्धे की उपाधि पाई। तब कहीं घर पहुँचा।

(२)

"राम-राम, यह भी कोई लड़ाई है! दिन-रात खन्दकों में बैठे हड्डियाँ अकड़ गईं। लुधियाना से दसगुना जाड़ा और मेंह, और बरफ ऊपर से। पिंडलियों तक कीचड़ में धँसे हुए हैं। गनीम कहीं दिखता नहीं;—घण्टे-दो-घण्टे में कान के परदे फाड़नेवाले धमाके के साथ सारी खन्दक हिल जाती है और सौ-सौ गज धरती उछल पड़ती है। इस गैबी गोले से बचे तो कोई लड़े। नगरकोट का जलजला सुना था, यहाँ दिन में पचीस जलजले होते हैं। जो कहीं खन्दक से बाहर साफा या कुहनी निकल गई, तो चटाक से गोली लगती है। न मालूम बेईमान मिट्टी में लेटे हुए हैं या घास की पत्तियों में छिपे रहते हैं।"

"लहनासिंह, और तीन दिन हैं। चार तो खन्दक में बिता ही दिये। परसों 'रिलफ'[१] आ जायगी, और फिर सात दिन की छुट्टी। अपने हाथों झटका[२] करेंगे, और पेट भर खाकर सो रहेंगे। उसी फरंगी[३] मेम के बाग में—मखमल का-सा हरा घास है। फल और दूध की वर्षा कर देती है। लाख कहते हैं, दाम नहीं लेती। कहती है, तुम राजा हो, मेरे मुल्क को बचाने आये हो।"

"चार दिन तक पलक नहीं झँपी। बिना फेरे घोड़ा बिगड़ता है और बिना लड़े सिपाही। मुझे तो संगीन चढ़ाकर मार्च का हुक्म मिल जाय। फिर सात जर्मनों को अकेला मार कर न लौटूँ, तो मुझे

---

१ शुद्ध-रिलीफ़। २ बकरा मारना। ३ फ़्रैंच।

दरबार साहब की देहली पर मत्था टेकना नसीब न हो। पाजी कहीं के, कलों के घोड़े—संगीन देखते ही मुँह फाड़ देते हैं, और पैर पकड़ने लगते हैं। यों अँधेरे में तीस-तीस मन का गोला फेंकते हैं। उस दिन धावा किया था—चार मील तक एक जर्मन नहीं छोड़ा था। पीछे जनरल साहब ने हट आने का कमान दिया, नहीं तो—"

"नहीं तो सीधे बर्लिन पहुँच जाते। क्यों?" सूबेदार हजारासिंह ने मुसकराकर कहा—"लड़ाई के मामले जमादार या नायक के चलाये नहीं चलते। बड़े अफसर दूर की सोचते हैं। तीन सौ मील का सामना है। एक तरफ बढ़ गये तो क्या होगा?"

"सूबेदार जी, सच है" लहनासिंह बोला—"पर करें क्या? हड्डियों-हड्डियों में तो जाड़ा धँस गया है। सूर्य निकलता नहीं, और खाई में दोनों तरफ से चम्बे की बावलियों के-से सोते झर रहे हैं। एक धावा हो जाय, तो गर्मी आ जाय।"

"उदमी[१], उठ, सिगड़ी में कोले डाल। वजीरा, तुम चार जने बाल्टियाँ लेकर खाई का पानी बाहर फेंको। महासिंह, शाम हो गई है, खाई के दरवाजे का पहरा बदला दे।"—यह कहते हुए सूबेदार सारी खन्दक में चक्कर लगाने लगे।

वजीरासिंह पल्टन का विदूषक था। बाल्टी में गँदला पानी भर कर खाई के बाहर फेंकता हुआ बोला—"मैं पाधा बन गया हूँ। करो जर्मनी के बादशाह का तर्पण!" इस पर सब खिलखिला पड़े, और उदासी के बादल फट गये।

लहनासिंह ने दूसरी बाल्टी भरकर उसके हाथ में देकर

---

१ उद्यमी।

कहा—"अपनी बाड़ी के खरबूजों में पानी दो। ऐसा खाद का पानी पंजाब भर में नहीं मिलेगा।"

"हाँ, देश क्या है, स्वर्ग है। मैं तो लड़ाई के बाद सरकार से दसघुमा[१] जमीन यहाँ माँग लूँगा, और फलों के बूटे[२] लगाऊँगा।"

"लाड़ी होराँ[३] को भी यहाँ बुला लोगे या वही दूध पिलाने-वाली फरङ्गी मेम—"

"चुपकर। यहाँ वालों को शरम नहीं।"

"देश-देश की चाल है। आज तक मैं उसे समझा न सका कि सिक्ख तम्बाकू नहीं पीते। वह सिगरेट देने में हठ करती है, ओठों में लगाना चाहती है, और मैं पीछे हटता हूँ, तो समझती है, कि राजा बुरा मान गया, अब मेरे मुल्क के लिए लड़ेगा नहीं।"

"अच्छा, अब बोधसिंह कैसा है ?"

"अच्छा है।"

"जैसे मैं जानता ही न होऊँ! रातभर तुम अपने दोनों कम्बल उसे उढ़ाते हो और आप सिगड़ी के सहारे गुजर करते हो। उसके पहरे पर आप पहरा दे आते हो। अपने सूखे लकड़ी के तख्तों पर उसे सुलाते हो, आप कीचड़ में पड़े रहते हो। कहीं तुम न माँदे पड़ जाना। जाड़ा क्या है, मौत है, और 'निमोनिया' से मरनेवालों को मुरब्बे[४] नहीं मिला करते।"

"मेरा डर मत करो। मैं तो बुलेल की खड्ड के किनारे मरूँगा। भाई कीरतसिंह की गोदी पर मेरा सिर होगा और मेरे हाथ के लगाये हुए आँगन के आम के पेड़ की छाया होगी।"

---

१ जमीन की माप। २ पेड़। ३ स्त्री। होराँ=आदरवाचक। ४ नई नहरों के पास वर्ग-भूमि।

वजीरासिंह ने त्यौरी चढ़ाकर कहा—"क्या मरने-मारने की बात लगाई है ? मरें जर्मनी और तुरक ! हाँ भाइयो, कैसे—"

दिल्ली शहर तें पिशौर नुँ जांदिये,
कर लेणा लौंगा दा बपार मड़िये;
कर लेणा नाड़ेदा सौदा अड़िये—
ओप लाणा चटाका कदुये नुँ।
कद्द बणाया वे मजेदार गोरिये,
हुण लाणा चटाका कदुए नुँ[१] ॥

कौन जानता था कि दाढ़ियोंवाले, घरबारी सिक्ख ऐसा लुच्चों का गीत गायेंगे, पर सारी खन्दक इस गीत से गूँज उठी और सिपाही फिर ताजे हो गये, मानो चार दिन से सोते और मौज ही करते रहे हों।

(३)

दो पहर रात बीत गई है। अँधेरा है। सन्नाटा छाया हुआ है। बोधसिंह खाली बिसकुटों के तीन टिनों पर अपने दोनों कम्बल बिछा-कर और लहनासिंह के दो कम्बल और एक बरानकोट[२] ओढ़कर सो रहा है। लहनासिंह पहरे पर खड़ा हुआ है। एक आँख खाई के मुँह पर है और एक बोधसिंह के दुबले शरीर पर। बोधसिंह कराहा।

"क्यों बोधा भाई, क्या है ?"

"पानी पिला दो।"

---

१ अरी दिल्ली शहर से पेशावर को जानेवाली; लौंगों का व्यापार कर ले और इजारबन्द का सौदा कर ले। जीभ चटचटाकर कद्दू खाना है। गोरी ! कद्दू मज़ेदार बना है। अब चटचटाकर उसे खाना है।

२ ओवरकोट।

लहनासिंह ने कटोरा उसके मुँह से लगाकर पूछा—"कहो कैसे हो ?" पानी पीकर बोधा बोला—"कँपनी[१] छूट रही है। रोम-रोम में तार दौड़ रहे हैं। दाँत बज रहे हैं।"

"अच्छा, मेरी जरसी पहन लो ?"

"और तुम ?"

"मेरे पास सिगड़ी है और मुझे गर्मी लगती है; पसीना आ रहा है।"

"ना, मैं नहीं पहनता; चार दिन से तुम मेरे लिए—"

"हाँ, याद आई। मेरे पास दूसरी गर्म जरसी है। आज सवेरे ही आई है। विलायत से मेमें बुन-बुनकर भेज रही हैं। गुरु उनका भला करे।" यों कहकर लहना अपना कोट उतारकर जरसी उतारने लगा।

"सच कहते हो ?"

"और नहीं झूठ ?" यों कहकर नाहीं करते बोधा को उसने जबरदस्ती जरसी पहना दी और आप खाकी कोट और जीन का कुरता भर पहनकर पहरे पर आ खड़ा हुआ। मेम की जरसी की कथा केवल कथा थी।

आधा घण्टा बीता। इतने में खाई के मुँह से आवाज आई,—"सूबेदार हजारासिंह !"

"कौन लपटन साहब ? हुकुम हुजूर"—कहकर सूबेदार तनकर फौजी सलाम करके सामने हुआ।

"देखो, इसी समय धावा करना होगा। मील भर की दूरी पर पूरब के कोने में एक जर्मन खाई है। उसमें पचास से ज्यादा जर्मन

---

१ कँपकपी।

नहीं हैं। इन पेड़ों के नीचे-नीचे दो खेत काटकर रास्ता है। तीन-चार घुमाव हैं। जहाँ मोड़ है वहाँ पन्द्रह जवान खड़े कर आया हूँ। तुम यहाँ दस आदमी छोड़कर सबको साथ ले उनसे जा मिलो। खन्दक छीनकर वहीं, जब तक दूसरा हुक्म न मिले, डटे रहो। हम यहाँ रहेगा।"

"जो हुक्म।"

चुपचाप सब तैयार हो गये। बोधा भी कम्बल उतार कर चलने लगा। तब लहनासिंह ने उसे रोका। लहनासिंह आगे हुआ तो बोधा के बाप सूबेदार ने उँगली से बोधा की ओर इशारा किया। लहनासिंह समझकर चुप हो गया। पीछे दस आदमी कौन रहें, इस पर बड़ी हुज्जत हुई। कोई रहना न चाहता था। समझा-बुझाकर सूबेदार ने मार्च किया। लपटन साहब लहना की सिगड़ी के पास मुँह फेरकर खड़े हो गये और जेब से सिगरेट निकालकर सुलगाने लगे। दस मिनट बाद उन्होंने लहना की ओर हाथ बढ़ाकर कहा—"लो तुम भी पीयो।"

आँख मारते-मारते लहनासिंह सब समझ गया। मुँह का भाव छिपाकर बोला—"लावो, साहब।" हाथ आगे करते ही उसने सिगड़ी के उजाले में साहब का मुँह देखा। बाल देखे। तब उसका माथा ठनका। लपटन साहब के पट्टियोंवाले बाल एक दिन में कहाँ उड़ गये और उनकी जगह कैदियों-से कटे हुए बाल कहाँ से आ गये?

शायद साहब शराब पीये हुए हैं और उन्हें बाल कटवाने का मौका मिल गया है? लहनासिंह ने जाँचना चाहा। लपटन साहब पाँच वर्ष से उसकी रेजिमेंट में थे।

"क्यों साहब, हम लोग हिन्दुस्तान कब जायेंगे?"

"लड़ाई खत्म होने पर। क्यों, क्या यह देश पसन्द नहीं?"

"नहीं साहब, शिकार के वे मजे यहाँ कहाँ? याद है, पार-साल नकली लड़ाई के पीछे हम आप जगाधरी जिले में शिकार करने गये थे—'हाँ, हाँ'—वही जब आप खोते[१] पर सवार थे और आपका खानसामा अब्दुल्ला रास्ते के एक मन्दिर में जल चढ़ाने को रह गया था?" बेशक पाजी कहीं का'—सामने से यह नील गाय निकली कि ऐसी बड़ी मैंने कभी न देखी थी। और आपकी एक गोली कन्धे में लगी और पुट्ठे में निकली। ऐसे अफसर के साथ शिकार खेलने में मजा है! क्यों साहब, शिमले से तैयार होकर उस नील गाय का सिर आ गया था न? आपने कहा था कि रेजिमेंट की मैस में लगायेंगे।' हो, पर मैंने वह विलायत भेज दिया'—ऐसे बड़े-बड़े सींग! दो-दो फुट के तो होंगे?"

"हाँ, लहनासिंह, दो फुट चार इञ्च के थे—तुमने सिगरेट नहीं पिया?"

"पीता हूँ साहब, दियासलाई ले आता हूँ"—कहकर लहना-सिंह खन्दक में घुसा। अब उसे सन्देह नहीं रहा था। उसने झटपट निश्चय कर लिया कि क्या करना चाहिए।

अँधेरे में किसी सोनेवाले से वह टकराया।

"कौन? वजीरासिंह?"

"हाँ, क्यों लहना? क्या, कयामत आ गई? जरा तो आँख लगने दी होती?"

---

१ गधे।

(४)

"होश में आओ। कयामत आई और लपटन साहब की वर्दी पहनकर आई है।"

"क्या ?"

"लपटन साहब या तो मारे गये हैं या कैद हो गये हैं। उनकी वर्दी पहनकर यह कोई जर्मन आया है। सूबेदार ने इसका मुँह नहीं देखा। मैंने देखा और बातें की हैं। सौहरा[१] साफ उर्दू बोलता है, पर किताबी उर्दू। और मुझे पीने को सिगरेट दिया है ?"

"तो अब ?"

"अब मारे गये। धोखा है। सूबेदार होरां कीचड़ में चक्कर काटते फिरेंगे और यहाँ खाई पर धावा होगा। उधर उन पर खुले में धावा होगा। उठो, एक काम करो। पल्टन के पैरों के निशान देखते-देखते दौड़ जाओ। अभी बहुत दूर न गये होंगे। सूबेदार से कहो कि एकदम लौट आवें। खन्दक की बात झूठ है। चले जाओ, खन्दक के पीछे से निकल जाओ। पत्ता तक न खुड़के। देर मत करो।"

"हुक्म तो यह है कि यहीं—"

"ऐसी-तैसी हुक्म की! मेरा हुक्म—जमादार लहनासिंह जो इस वक्त यहाँ सबसे बड़ा अफसर है उसका हुक्म है। मैं लपटन साहब की खबर लेता हूँ।"

"पर यहाँ तो तुम आठ ही हो।"

"आठ नहीं, दस लाख। एक-एक अकालिया सिक्ख सवा लाख के बराबर होता है। चले जाओ।"

---

१ ससुरा (गाली)।

लौटकर खाई के मुहाने पर लहनासिंह दीवार से चिपक गया। उसने देखा कि लपटन साहब ने जेब से बेल के बराबर तीन गोले निकाले। तीनों को जगह जगह खन्दक की दीवारों में घुसेड़ दिया और तीनों में एक तार-सा बाँध दिया। तार के आगे सूत की एक गुत्थी थी, जिसे सिगड़ी के पास रखा। बाहर की तरफ जाकर एक दियासलाई जलाकर गुत्थी पर रखने—

बिजली की तरह दोनों हाथों से उल्टी बन्दूक को उठाकर लहनासिंह ने साहब की कुहनी पर तानकर दे मारा। धमाके के साथ साहब के हाथ से दियासलाई गिर पड़ी। लहनासिंह ने एक कुन्दा साहब की गर्दन पर मारा और साहब 'आँख[१] मीन गौट्ट'[२] कहते हुए चित्त हो गये। लहनासिंह ने तीनों गोले बीनकर खन्दक के बाहर फेंके और साहब को घसीटकर सिगड़ी के पास लिटाया। जेबों की तलाशी ली। तीन-चार लिफाफे और एक डायरी निकालकर उन्हें अपनी जेब के हवाले किया।

साहब की मूर्छा हटी। लहनासिंह हँसकर बोला—"क्यों लपटन साहब? मिजाज कैसा है? आज मैं बहुत बातें सीखीं। यह सीखा कि सिक्ख सिगरेट पीते हैं। यह सीखा कि जगाधरी के जिले में नील गायें होती हैं और उनके दो फुट चार इञ्च के सींग होते हैं। यह सीखा कि मुसलमान खानसामा मूर्त्तियों पर जल चढ़ाते हैं और लपटन साहब खोते पर चढ़ते हैं। पर यह तो कहो, ऐसी साफ उर्दू कहाँ से सीख आये? हमारे लपटन साहब तो बिना 'डैम' के पाँच लफ्ज भी नहीं बोला करते थे।"

---

१ हाय। २ मेरे राम (जर्मन)

लहना ने पतलून के जेबों की तलाशी नहीं ली थी। साहब ने, मानो जाड़े से बचाने के लिए, दोनों हाथ जेबों में डाले।

लहनासिंह कहता गया—"चालाक तो बड़े हो पर माँझे का लहना इतने बरस लपटन साहब के साथ रहा है। उसे चकमा देने के लिए चार आँखें चाहिए। तीन महीने हुए, एक तुरकी मौलवी मेरे गाँव में आया था। औरतों को बच्चे होने के तावीज बाँटता था और बच्चों को दवाई देता था। चौधरी के बड़ के नीचे मंजा[१] बिछाकर हुक्का पीता रहता था और कहता था जर्मनीवाले बड़े पण्डित हैं। वेद पढ़-पढ़कर उसमें से विमान चलाने की विद्या जान गये हैं। गौ को नहीं मारते। हिन्दुस्तान में आ जायेंगे तो गोहत्या बन्द कर देंगे। मण्डी के बनियों को बहकाता था कि डाकखाने से रुपया निकाल लो; सरकार का राज्य जानेवाला है। डाक-बाबू पोल्हूराम भी डर गया था। मैंने मुल्लाजी की दाढ़ी मूँड़ दी थी। और गाँव से बाहर निकालकर कहा था कि जो मेरे गाँव में अब पैर रक्खा तो—"

साहब की जेब में से पिस्तौल चला और लहना की जाँघ में गोली लगी। इधर लहना की हैनरी मार्टिनी के दो फायरों ने साहब की कपाल-क्रिया कर दी। धड़ाका सुनकर सब दौड़ आये।

बोधा चिल्लाया—"क्या है?"

लहनासिंह ने उसे यह कहकर सुला दिया कि 'एक हड़का हुआ कुत्ता आया था, मार दिया' और, औरों से सब हाल कह दिया। सब बन्दूकें लेकर तैयार हो गये। लहना ने साफा फाड़कर घाव के दोनों तरफ पट्टियाँ कसकर बाँधी। घाव मांस में ही था! पट्टियों के कसने से लहू निकलना बन्द हो गया।

---

१ खटिया।

इतने में सत्तर जर्मन चिल्लाकर खाई में घुस पड़े। सिक्खों की बन्दूकों की बाढ़ ने पहले धावे को रोका। दूसरे को रोका। पर यहाँ थे आठ (लहनासिंह तक-तक कर मार रहा था—वह खड़ा था, और, और लेटे हुए थे) और वे सत्तर। अपने मुर्दा भाइयों के शरीर पर चढ़कर जर्मन आगे घुसे आते थे। थोड़े से मिनटों में वे—

अचानक आवाज आई—'वाह गुरुजी की फतह! वाह गुरु जी का खालसा!!' और धड़ाधड़ बन्दूकों के फायर जर्मनों की पीठ पर पड़ने लगे। ऐन मौके पर जर्मन दो चक्की के पाटों के बीच में आ गये। पीछे से सूबेदार हजारासिंह के जवान आग बरसाते थे और सामने लहनासिंह के साथियों के संगीन चल रहे थे। पास आने पर पीछेवालों ने भी संगीन पिरोना शुरू कर दिया।

एक किलकारी और—'अकाल सिक्खाँ दी फौज आई! वाह गुरुजी दी फतह! वाह गुरुजी दा खालसा! सत श्री अकाल पुरुख!!!' और लड़ाई खतम हो गई। तिरसठ जर्मन या तो खेत रहे थे या कराह रहे थे। सिक्खों में पन्द्रह के प्राण गये। सूबेदार के दाहने कन्धे में से गोली आर-पार निकल गई। लहनासिंह की पसली में एक गोली लगी। उसने घाव को खन्दक की गीली मिट्टी से पूर लिया और बाकी का साफा कसकर कमरबन्द की तरह लपेट लिया। किसी को खबर न हुई कि लहना को दूसरा घाव—भारी घाव—लगा है।

लड़ाई के समय चाँद निकल आया था, ऐसा चाँद, जिसके प्रकाश से संस्कृत-कवियों का दिया हुआ 'क्षयी' नाम सार्थक होता है। और हवा ऐसी चल रही थी जैसी कि बाणभट्ट की भाषा में 'दन्तवीणोपदेशाचार्य' कहलाती। वजीरासिंह कह रहा था कि कैसे मन-मन भर फ्रांस की भूमि मेरे बूटों से चिपक रही थी जब मैं दौड़ा-दौड़ा सूबेदार के पीछे गया था। सूबेदार लहनासिंह से सारा हाल सुन और

कागजात पाकर वे उसकी तुरत-बुद्धि को सराह रहे थे और कह रहे थे कि तू न होता तो आज सब मारे जाते।

इस लड़ाई की आवाज तीन मील दाहिनी ओर की खाईवालों ने सुन ली थी। उन्होंने पीछे टेलीफोन कर दिया था। वहाँ से झटपट दो डाक्टर और दो बीमार ढोने की गाड़ियाँ चलीं, जो कोई डेढ़ घण्टे के अन्दर-अन्दर आ पहुँचीं। फील्ड अस्पताल नजदीक था। सुबह होते-होते वहाँ पहुँच जायँगे, इसलिए मामूली पट्टी बाँधकर एक गाड़ी में घायल लिटाये गये और दूसरी में लाशें रक्खी गईं। सूबेदार ने लहनासिंह की जाँघ में पट्टी बँधवानी चाही। पर उसने यह कहकर टाल दिया कि थोड़ा घाव है, सबेरे देखा जायगा। बोधासिंह ज्वर में बर रहा था। वह गाड़ी में लिटाया गया। लहना को छोड़कर सूबेदार जाते नहीं थे। यह देख लहना ने कहा—"तुम्हें बोधा की कसम है, और सूबेदारनी जी की सौगन्ध है जो इस गाड़ी में न चले जाओ।"

"और तुम?"

"मेरे लिए वहाँ पहुँच कर गाड़ी भेज देना, और जर्मन मुर्दों के लिए भी तो गाड़ियाँ आती होंगी। मेरा हाल बुरा नहीं है। देखते नहीं, मैं खड़ा हूँ? वजीरासिंह मेरे पास ही है।"

"अच्छा, पर—"

"बोधा गाड़ी पर लेट गया? भला। आप भी चढ़ जाओ। सुनिए तो, सूबेदारनी होराँ को चिट्ठी लिखो, तो मेरा मत्था टेकना लिख देना। और जब घर जाओ तो कह देना कि मुझसे जो उनने कहा था वह मैंने कर दिया।"

गाड़ियाँ चल पड़ी थीं। सूबेदार ने चढ़ते-चढ़ते लहना का हाथ पकड़कर कहा—"तैने मेरे और बोधा के प्राण बचाये हैं। लिखना

कैसा ? साथ ही घर चलेंगे। अपनी सूबेदारनी को तू ही कह देना। उसने क्या कहा था ?"

"अब आप गाड़ी पर चढ़ जाओ। मैंने जो कहा, वह लिख देना, और कह भी देना।"

गाड़ी के जाते ही लहना लेट गया।—"वजीरा पानी पिला दे, और मेरा कमरबन्द खोल दे। तर हो रहा है।"

(५)

मृत्यु के कुछ समय पहले स्मृति बहुत साफ हो जाती है। जन्मभर की घटनायें एक-एक करके सामने आती हैं। सारे दृश्यों के रंग साफ होते हैं; समय की धुन्ध बिलकुल उन पर से हट जाती है।

*　　　*　　　*

लहनासिंह बारह वर्ष का है। अमृतसर में मामा के यहाँ आया हुआ है। दहीवाले के यहाँ, सब्जीवाले के यहाँ, हर कहीं, उसे एक आठ वर्ष की लड़की मिल जाती है। जब वह पूछता है, तेरी कुड़माई हो गई ? तब 'धत्' कहकर वह भाग जाती है। एक दिन उसने वैसे ही पूछा, तो उसने कहा—'हाँ, कल हो गई, देखते नहीं यह रेशम के फूलोंवाला सालू ?' सुनते ही लहनासिंह को दुःख हुआ। क्रोध हुआ। क्यों हुआ ?

"वजीरासिंह, पानी पिला दे।"

*　　　*　　　*

पचीस वर्ष बीत गये। अब लहनासिंह नं० ७७ रैफल्स में जमादार हो गया है। उस आठ वर्ष की कन्या का ध्यान ही न रहा।

न मालूम वह कभी मिली थी, या नहीं। सात दिन की छुट्टी लेकर जमीन के मुकदमे की पैरवी करने वह अपने घर गया। वहाँ रेजिमेंट के अफसर की चिट्ठी मिली कि फौज लाम पर जाती है, फौरन चले आओ। साथ ही सूबेदार हजारासिंह की चिट्ठी मिली कि मैं और बोधासिंह भी लाम पर जाते हैं। लौटते हुए हमारे घर होते जाना। साथ ही चलेंगे। सूबेदार का गाँव रास्ते में पड़ता था, और सूबेदार उसे बहुत चाहता था। लहनासिंह सूबेदार के यहाँ पहुँचा।

जब चलने लगे, तब सूबेदार बेढे[1] में से निकल कर आया। बोला—'लहना, सूबेदारनी तुमको जानती हैं, बुलाती हैं। जा मिल आ।' लहनासिंह भीतर पहुँचा। सूबेदारनी मुझे जानती हैं? कब से? रेजिमेंट के क्वार्टरों में तो कभी सूबेदार के घर के लोग रहे नहीं। दरवाजे पर जाकर 'मत्था टेकना?' कहा। असीस सुनी। लहनासिंह चुप।

'मुझे पहचाना?'

'नहीं।'

'तेरी कुड़माई हो गई—धत्—कल हो गई—देखते नहीं, रेशमी बूटोंवाला सालू—अमृतसर में—'

भावों की टकराहट से मूर्छा खुली। करवट बदली। पसली का घाव बह निकला।

'वजीरा, पानी पिला'—'उसने कहा था।'

* * *

स्वप्न चल रहा है। सूबेदारनी कह रही है—"मैंने तेरे को

---

१ जनाने।

आते ही पहचान लिया। एक काम कहती हूँ। मेरे तो भाग फूट गये। सरकार ने बहादुरी का खिताब दिया है, लायलपुर में जमीन दी है, आज नमकहलाली का मौका आया है। पर सरकार ने हम तीमियों[1] की एक घँघरिया पल्टन क्यों न बना दी, जो मैं भी सूबेदार जी के साथ चली जाती? एक बेटा है। फौज में भर्ती हुए उसे एक ही बरस हुआ। उसके पीछे चार और हुए, पर एक भी नहीं जिया।' सूबेदारनी रोने लगी। 'अब दोनों जाते हैं। मेरे भाग! तुम्हें याद है, एक दिन टाँगे-वाले का घोड़ा दहीवाले की दूकान के पास बिगड़ गया था। तुमने उस दिन मेरे प्राण बचाये थे। आप घोड़े की लातों में चले गये थे, और मुझे उठाकर दूकान के तख्ते पर खड़ा कर दिया था। ऐसे ही इन दोनों को बचाना। यह मेरी भिक्षा है। तुम्हारे आगे मैं आँचल पसारती हूँ।'

रोती-रोती सूबेदारनी ओबरी[2] में चली गई। लहना भी आँसू पोंछता हुआ बाहर आया।

'वजीरासिंह, पानी पिला'—'उसने कहा था।'

* * *

लहना का सिर अपनी गोद में रक्खे वजीरासिंह बैठा है। जब माँगता है, तब पानी पिला देता है। आध घण्टे तक लहना चुप रहा, फिर बोला—"कौन! कीरतसिंह?"

वजीरा ने कुछ समझकर कहा—"हाँ।"

"भैया, मुझे और ऊँचा कर ले। अपने पट्ट[3] पर मेरा सिर रख ले।"

---

१ स्त्रियों। २ अन्दर का घर। ३ जाँघ।

वजीरा ने वैसा ही किया।

"हाँ, अब ठीक है। पानी पिला दे। बस, अबके हाड़[1] में यह आम खूब फलेगा। चचा भतीजा दोनों यहीं बैठकर आम खाना। जितना बड़ा तेरा भतीजा है, उतना ही यह आम है। जिस महीने उसका जन्म हुआ था, उसी महीने में मैंने इसे लगाया था।"

वजीरासिंह के आँसू टप-टप टपक रहे थे!

* * *

कुछ दिन पीछे लोगों ने अखबारों में पढ़ा—फ्रांस और बेलिजियम—६८वीं सूची—मैदान में घावों से मरा—नं० ७७ सिख राइफल्स जमादार लहनासिंह।

एक के दो दो

[पार्वतीनन्दन]

हजारों वर्ष नहीं, लाखों वर्ष हो गये, एक राजा रहता था। उसके प्रताप से शेर और बकरी एक ही घाट में पानी पीते थे।

धरती पर जितने राजे थे, इस राजा का राज उन सबसे बड़ा था। वर्षों तक चलते जाओ, तो भी उसका ओर छोर नहीं मिलता था।

---

१ आषाढ़।

राजा का भाण्डार लक्ष्मी जी की दया से बड़े बड़े रत्नों से ठसाठस भरा रहता था। इतना धनी राजा और दूसरा नहीं था।

राजा के पास एक माणिक था। वह बहुत बड़ा और बहुत चमकदार था। उसकी चमक के सामने कैरोसिन लम्प की रोशनी भी हलकी मालूम होती थी।

यह माणिक राजा को बहुत प्यारा था। राजा इसके लिए अपनी जान तक दे डालने को तैयार थे, क्योंकि वह अकेला माणिक सात राजाओं की दौलत के बराबर था।

माणिक का हाथ लगना तो दुर्लभ ही था, पर, राजा के पास एक और रत्न था जिसके देखने को राजा-प्रजा सभी की आँखें ललचाया करती थीं, जिसके पाने के लिए बड़े बड़े राजकुमार बरसों राजा की ड्योढ़ी पर हाथ बाँधकर खड़े रहते थे।

यह रत्न राजा की एकलौती बेटी थी। इस रत्न के नेत्र-रत्नों की चमक के सामने चाँद-सूरज भी लजाया करते थे।

पर, राजा जी अपने दोनों रत्नों की बड़ी सावधानी से रखवाली किया करते। एक को नीले मखमली अस्तर से मढ़े हुए सुनहरे बक्स में रखकर दिन-रात सन्तरियों के पहरे में रखते थे; दूसरे को हर घड़ी अपने पास। दूर से देखने के सिवा उन दोनों के पास आने का हुक्म किसी को न था।

राजा जी समझते थे कि हमारा माणिक दुनिया भर में सबसे बड़ा, सबसे आबदार और सबसे कीमती है। इस माणिक के रखने से वे अपने को बड़ा भाग्यशाली समझते थे, और दूर दूर से कोई बड़ा आदमी आता तो उसे माणिक दिखलाकर पूछा करते थे कि "आपने इसकी बराबरीवाला दूसरा माणिक भी कहीं देखा है?"

एक दिन किसी दूसरे राजा का दूत इनकी सभा में आया। राजा

जी ने उसे अपना माणिक दिखाकर पूछा, "कहिए, इसकी बराबरी का दूसरा माणिक भी आपने कभी देखा है ?"

पर, राजदूत का जवाब सुनकर राजा जी की अक्ल चकरा गई। राजदूत ने कहा, "धर्म्मावतार, इसके सच्चे माणिक होने में कोई संदेह नहीं। पर हमारी राजधानी में भी एक ऐसा ही माणिक है। वह भी किसी बात में इससे घटकर नहीं।"

"हैं! राजदूत कहता क्या है?"—राजा जी बड़ी बड़ी आँखें फाड़-फाड़कर घूरने लगे। उनकी बोली बन्द हो गई। उन्होंने समझा कि मैं सपना देख रहा हूँ।—"मेरे माणिक की बराबरी का दूसरा माणिक? हैं! यह कहता क्या है?"

राजा को गुस्सा आया। वह चिल्लाकर बोला, "जोड़ा? मेरे माणिक का जोड़ा? नहीं नहीं ऐसा कभी नहीं हो सकता। मेरे माणिक का जोड़ा!"

राजदूत ने हाथ जोड़कर बड़ी अधीनता से कहा, "कृपानिधान, आप जो कुछ कहते हैं सो सच है। पर मैं भी झूठ नहीं कहता। ऐसे माणिक दो ही हैं। और दोनों एक दूसरे से बढ़कर हैं।"

जलती हुई आग में जैसे घी पड़ जाता है—नहीं, नहीं, मिट्टी के तेल के कनस्टर में जैसे दियासलाई लग जाती है,—राजा जी की भी वही दशा हो गई। वह भक से जल उठे,—राजदूत को कान पकड़कर उन्होंने निकलवा दिया,—मारे गुस्से के थरथर काँपने लगे। सब लोग डर के मारे जिधर जिसको जगह मिली अपनी अपनी जान लेकर जा छिपे।

इसी तरह एक दिन और एक रात बीत गई। दूसरे दिन राजा जी की क्रोध की आग कुछ शान्त हुई। उन्होंने महामन्त्री को बुलवा

कर हुक्म दिया—"अभी जाकर खबर ले आओ, उस राजदूत की बात सच है या नहीं।"

महामन्त्री ने चुने हुए भेदियों को भेष बदलवा कर दूसरे माणिकवाली राजधानी में भेजा। बात सही थी। महामन्त्री जी ने डरते डरते राजा जी से सच बात कह दी। राजा बेचारे बहुत घबराये। कुछ सोच-समझ कर दूसरे माणिकवाले राजा को उन्होंने लिखा भेजा कि आप जितना दाम चाहें मैं देने को तैयार हूँ। अपना माणिक मेरे हाथ बेच डालिए।

पर वह राजा भी दबनेवाला न था। उसने भी राजा के दूतों को कान पकड़कर अपनी राजधानी से बाहर निकलवा दिया, और अपने माणिक पर कड़ा पहरा खड़ा करवा दिया कि कोई उसे चुरा न ले जाय!

पर पहले माणिकवाले राजा को चैन न पड़ी। वह रात दिन मारे बेचैनी के छटपटाया किया। निदान, महामन्त्री की सलाह से सब जगह डुग्गी पिटवा दी कि जो कोई मेरे माणिक का जोड़ा ला देगा, मैं उसे अपनी बेटी ब्याह दूँगा।

पर किसकी ऐसी ताकत थी कि माणिक का जोड़ा ला देता? न कोई उसे लाया, न बेटी का ब्याह हुआ, और न राजा जी को ही चैन मिला। मारे सोच के दिनों-दिन राजा जी सूख सूख कर लकड़ी होने लगे।

इतने में एक दिन किसी राजकुमार ने राजकुमारी को देख लिया। देखते ही उसका कलेजा फड़क उठा। वह इसी ताक में लगा कि किसी तरह यह राजकुमारी मुझको मिल जाय।

वह राजकुमार बड़ा चतुर था। खूब पढ़ा लिखा था। उसने सभा में जाकर झुककर राजा जी को नमस्कार किया और कहा,

"महाराजाधिराज, आप बड़े सोच में पड़े हैं। आपको क्या चाहिए, मुझसे कहिए। मैं आपका हुक्म बजा लाऊँगा।"

राजा जी बोले, "तुम बड़े चतुर मालूम होते हो। मुझे अपने माणिक का जोड़ा चाहिए। तुम उसे ला दोगे ?"

कुमार ने कहा, "महाराज, दोनों माणिक आप ही के पास हैं।" राजा ने कहा, "चलो, जाओ जी, तुम निरे घनचक्कर हो। मेरे पास दो होते तो मैं आज न जाने क्या कर डालता !"

यों कहकर राजा जी उस लड़के को जवाहिरखाने में ले गये, और माणिक दिखाकर कहा, "देखो, एक ही तो है।"

राजकुमार ने जवाब दिया, "महाराज ! वही बात न हुई ? एक तो दो ही के बराबर है न ?"

राजाजी ने झुँझलाकर कहा, "कैसी पागलपने की बातें कर रहे हो ? एक कहीं दो के बराबर होता है ?"

"हाँ महाराज, एक ही दो हैं। मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि एक बराबर है दो के।"

"तुम्हारे ऐसे पागल ही एक को दो बतलावेंगे।"

"नहीं, महाराज, आप कहें तो मैं दिखा दूँ। एक दो के बराबर है।"

राजा जी कुछ ऐसे वैसे राजा तो थे ही नहीं। वह बड़े समझदार थे। उन्होंने समझा, यह लड़का है तो क्या इसकी बातें शायद सच ही हों। उन्होंने कहा, "अच्छा, तुम्हारे कहने का क्या सबूत है ?"

"सबूत ? अच्छा, महाराज, सब पंडितों को बुलवावें। मैं उनके सामने साबित कर दूँगा कि एक दो के बराबर है।

फिर क्या था ! हुक्म देने भर की देर थी कि एक बड़ा भारी

मण्डप रचा गया। बड़े बड़े विद्वान् दूर दूर से बुलाये गये। राजा भी राजकन्या को लेकर सभा में जा बैठे। तब राजकुमार ने एक ऊँची जगह पर एक काला तख्ता लगवाया और आप खड़िया लेकर उसके पास जा खड़ा हुआ।

राजा ने कहा, "अब देर मत करो, झटपट बता दो कि एक, किस तरह दो के बराबर हो सकता है ?"

राजकुमार ने कहा, "महाराज ! अभी लीजिए। मैं अभी यह बात सब लोगों के सामने साबित किये देता हूँ। पर पहले यह बतलाइए कि मुझे क्या इनाम मिलेगा।"

राजा ने कहा, "जो तुम्हारी बात सच निकले तो मैं अपनी इस कन्या से तुम्हारा ब्याह कर दूँगा।"

राजकुमारी भी उस समय वहीं थी। उसने तो समझा था कि मुझे जन्म भर कुँवारी ही रहना पड़ेगा। ब्याह का नाम सुनकर और सामने ऐसे सुन्दर युवा को देखकर, उसने लाज से अपना सिर नीचा कर लिया। उसके लजाते हुए चाँद से मुखड़े को देखकर राजकुमार का कलेजा और भी फड़क उठा। उसने चिल्लाकर कहा—

"सुनिए पंडित लोगो ! महाराज ने जो प्रतिज्ञा की है उसे मत भूलिए। अब देखिए, एक बराबर है दो के।"

"मान लीजिए कि अ बराबर है द्व के।"

सब लोग कहने लगे "ठीक है।" सब लोग अपनी जानकारी दिखलाने के लिए अपने पगड़ीदार सिर हिलाने लगे।

राजा ने कहा, "मैंने भी इसे मान लिया।" कुमार ने कहा "तब अ = द्व के।" तख्ते पर उसने लिखा—

$अ\ द्व = द्व^{२}$

चारों तरफ से "ठीक, ठीक" की आवाज़ गूँजने लगी। राजकुमार ने कहा, "अब हम दोनों में से अ^{२} घटाते हैं।"

$$अ\,त्त^{२} - अ^{२} = त्त^{२} - अ^{२}$$

अब तो बहुत से दरबारी चकराने लगे। पर जो गणित समझते थे, वे लोग अपनी पगड़ियाँ अब भी हिलाने लगे। राजा ने भी इसको समझ लिया।

राजकुमार ने कहा, "इससे अब यह नतीजा निकलता है—
अ (त्त – अ) = (त्त + अ) (त्त – अ)"

इन अंकों को देखते ही सब दरबारियों को चकाचौंध आने लगी। पर राज-ज्योतिषी और दो एक और भी पंडितों ने कहा, "हाँ, हाँ; ठीक है।"

राजकुमार ने कहा, "देखिए, दोनों पदों में (त्त – अ) शामिल है। बीजगणित के क़ायदे से, उसे दोनों में से निकाल दें तो दोनों बराबर रहेंगे—

अ = त्त + अ

"पर हम पहले मान चुके हैं कि अ और त्त दोनों बराबर हैं। इसलिए त्त की जगह अ लिख दें तो कुछ हर्ज नहीं—

इसलिये अ = अ + अ

यानी अ = २ अ

यानी १ = २

यों लिखकर, राजकुमार हटकर तख्ते के बगल में खड़ा हो गया। तख्ते पर यह लिखा था—

अ = त्त

$$अ\,त्त = त्त^{२}$$

$$अ\,त्त - अ^{२} = त्त^{२} - अ^{२}$$

अ (त्त–अ) = (त्त + अ) (त्त–अ)

अ = त्त + अ

अ = अ + अ

अ = २ अ

१ = २

अब जरा राजा जी की ओर देखिए। मारे घबराहट के उनके कलेजे में लोहार की धौंकनी धौंक रही थी। ज़ोर से चिल्लाकर आप कहने लगे——

"ठीक है ! ठीक है ! मैंने भी लड़काई में बीजगणित का समीकरण सीखा था। तुम्हारे गणित की शुद्धता में ज़रा भी अन्तर नहीं। ठीक है ! ठीक है ! एक बराबर दो के ! एक माणिक दो के बराबर हो गया !! ठीक है ! एक के दो दो हो गये !!!

राजा को मगन देखकर सब लोग भी मगन हुए। चारों तरफ़ गहगहे बाजे बजने लगे। राजकुमार को सब लोग राजकुमारी के सामने ले गये। उसने लजाते लजाते कुमार के गले में जयमाल पहना दी।

एक के दो दो हो गये।

———

प्लेग की चुड़ैल

[श्री भगवानदास बी० ए०]

गत वर्ष जब प्रयाग में प्लेग घुसा और प्रतिदिन सैकड़ों गरीब और अनेक महाजन, जमींदार, वकील, मुख्तार के घरों के प्राणी मरने लगे तो लोग घर छोड़ छोड़ कर भागने लगे, यहाँ तक कि कई नामी

डाक्टर भी दूसरे शहरों को चले गये। एक मुहल्ले में ठाकुर बिभवसिंह नामी एक बड़े जमींदार रहते थे। उन्होंने भी अपने इलाके पर जो प्रयाग से पाँच मील की दूरी पर था, चले जाने की इच्छा की। सिवा उनकी स्त्री और एक पाँच वर्ष के बालक के और कोई सम्बन्धी उनके घर में नहीं था। रविवार को प्रातःकाल ही सब इलाके पर चलने की तयारी करने लगे। जल्दी में उनकी स्त्री ने ठंढे पानी से नहा लिया। बस नहाना था कि ज्वर चढ़ आया, हकीम साहब बुलाये गये और दवा दी गई। पर उससे कुछ लाभ न हुआ। सायंकाल को गले में एक गिल्टी भी निकल आई। तब तो ठाकुर साहब और उनके नौकरों को अत्यन्त व्याकुलता हुई। डाक्टर साहब बुलाये गए, उन्होंने देखते ही कहा कि प्लेग की बीमारी है, आप लोगों को चाहिये कि यह घर छोड़ दें। यह कहकर वह चले गए। अब ठाकुर साहब बड़े असमंजस में पड़े। न तो उनसे वहाँ रहते ही बनता था, न छोड़ के जाते ही बनता था। वे मन में सोचने लगे, यदि यहाँ मेरे ठहरने से बहू जी को कुछ लाभ हो तो मैं अपनी जान भी खतरे में डालूँ परन्तु इस बीमारी में दवा तो कुछ काम ही नहीं करती फिर मैं यहाँ ठहरकर अपना प्राण क्यों खोऊँ। यह सोच जब वे चलने के लिये खड़े होते थे तब वह बालक जिसका नाम नवलसिंह था अपनी माता के मुख की ओर देखकर रोने लगता था और वहाँ से जाने से इनकार करता था। ठाकुर साहब भी प्रेम के कारण मूक अवस्था को प्राप्त हो जाते थे और विवश हो बैठ रहते थे। ठाकुर साहब तो बड़े सहृदय और सज्जन पुरुष थे, फिर इस समय उन्होंने ऐसी निठुरता क्यों दिखलाई, इसका कोई कारण अवश्य था, परन्तु उन्होंने उस समय उसे किसी को नहीं बतलाया। हाँ, वह बार बार यही कहते थे कि स्त्री का प्राण तो जा ही रहा है, इसके साथ मेरा भी प्राण जाय तो

कुछ हानि नहीं, पर मैं यह चाहता हूँ कि मेरा पुत्र तो बचा रहे, मेरा कुल तो न लुप्त हो जावे। पर वह बेचारा बालक इन बातों को क्या समझता था। वह तो मातृभक्ति के बन्धन में ऐसा बँधा था कि रात भर अपनी माता के पास बैठा रोता रहा। जब प्रातःकाल हुआ और ठकुराइन जी को कुछ चेत हुआ तो उन्होंने आँखों में आँसू भर के कहा—बेटा नवलसिंह! तुम शोक मत करो, तुम किसी दूसरे मकान में चले जाओ, मैं अच्छी होकर शीघ्र ही तुम्हारे पास आऊँगी। पर वह लड़का न तो समझाने से ही मानता था न स्वयं ऐसे स्थान पर ठहरने के परिणाम को जानता था। बहू जी तो यह कह कर फिर अचेत हो गईं, पर बालक वहीं बैठा सिसक सिसक कर रोता रहा। थोड़ी देर बाद फिर डाक्टर, वैद्य, हकीम आये। पर किसी की दवा ने काम न किया। होते होते इसी तरह दोपहर हो गई, तीसरे पहर को बहू जी का शरीर बिलकुल शिथिल हो गया और डाक्टर ने मुख की चेष्टा दूर ही से देखकर कहा—'बस अब इनका देहान्त हो गया, उठाने की फिक्र करो।' यह सुन सब नौकरानियाँ और नौकर रोने लगे और पड़ोस के लोग एकत्रित हो गए, सबके मुख से यही बात सुन पड़ती थी—'अरे निर्दई काल ने इस अबला का प्राण ले ही डाला, क्या उसकी सुन्दरता, सुहृदयता और अपूर्व पातिव्रत धर्म का कुछ भी असर उस पर नहीं हुआ! क्या इस क्रूर काल को किसी के भी सद्गुणों पर विचार नहीं होता!!' एक पड़ोसी जो कवि था, यह सवैया कहकर अपने शोक को प्रकाश करने लगा—

सूर को चूर करै छिन में
अरु कादर को दर धूर मिलावै।
कोविद हूँ को बिदारत है,
अरु मूरख को रख गाल चबावै॥

दुलाईवाली

[एक वङ्ग-महिला]

काशी जी के दशाश्वमेध घाट पर स्नान करके एक मनुष्य बड़ी व्यग्रता के साथ गोदौलिया की तरफ आ रहा था। एक हाथ में एक मैली-सी तौलिया में लपेटी हुई भीगी धोती और दूसरे में सुरती की गोलियों की कई डिबियाँ और सुँघनी की एक पुड़िया थी। उस समय दिन के ग्यारह बजे थे। गोदौलिया की बाईं ओर जो गली है, उसके भीतर एक और गली में थोड़ी दूर पर, एक टूटे से पुराने मकान में वह जा घुसा। मकान के पहले खंड में बहुत अँधेरा था; पर ऊपर की जगह मनुष्य के वासोपयोगी थी। नवागत धड़धड़ाता हुआ ऊपर चढ़ गया। वहाँ एक कोठरी में उसने हाथ की चीजें रख दीं और "सीता! सीता!" कहकर पुकारने लगा। "क्या है?" कहती हुई एक दस वर्ष की बालिका आ खड़ी हुई। तब उस पुरुष ने कहा,—"सीता! जरा अपनी बहन को बुला ला।" "अच्छा" कह कर सीता गई, और कुछ देर में एक नवीना स्त्री आकर उपस्थित हुई। उसे देखते ही पुरुष ने कहा,—"तो हम लोगों को तो आज ही जाना होगा।" इस बात को सुनकर स्त्री कुछ आश्चर्ययुक्त होकर और झुँझलाकर बोली—

"आज ही जाना होगा! यह क्यों? भला आज कैसे जाना हो सकेगा? ऐसा ही था तो सवेरे भैया से कह देते। तुम तो जानते हो कि मुँह से कह दिया; बस छुट्टी हुई। लड़की कभी बिदा की होती तो मालूम पड़ता। आज तो किसी सूरत में जाना नहीं हो सकता।"

"तुम आज कहती हो! हमें तो अभी जाना है। बात यह है कि आज नवलकिशोर कलकत्ते से आ रहे हैं। आरे से अपनी नई

बहू को भी साथ ला रहे हैं। सो उन्होंने हमें आज ही जाने के लिए इसरार किया है। हम सब लोग मुगलसराय से साथ ही इलाहाबाद चलेंगे। उनका तार मुझे घर से निकलते ही मिला। इसी से मैं झट नहा-धोकर लौट आया। बस, अब करना तो क्या है? कपड़ा-वपड़ा जो कुछ हो बाँध-बूँधकर, घण्टे भर में खा-पीकर, चली चलो। जब हम तुम्हें बिदा कराने आये ही हैं, तब कल के बदले आज ही सही।"

"हाँ, यह बात है! नवल जो चाहें करावें। क्या एक ही गाड़ी में न जाने से दोस्ती में बट्टा लग जायगा? अब तो किसी तरह रुकोगे नहीं, जरूर ही उनके साथ जाओगे। पर मेरे तो नाकों दम आ जायगी!"

"क्यों? किस बात से?"

"उनकी हँसी से और किससे! हँसी-ठट्ठा भी राह से अच्छी लगती है। उनकी हँसी मुझे नहीं भाती। एक रोज मैं चौके में बैठी पूड़ियाँ काढ़ रही थी, कि इतने में न जाने कहाँ से आकर नवल चिल्लाने लगे,—"ए बुआ! ए बुआ! देखो तुम्हारी बहू पूड़ियाँ खा रही है।" मैं तो मारे शरम के मर-सी गई। हाँ, भाभी जी ने बात उड़ा दी सही। वे बोलीं,—"खाने दो, खाने-पहनने के लिए आई ही हैं।" पर मुझे उनकी हँसी बहुत बुरी लगी।"

"बस, इसी से तुम उनके साथ नहीं जाना चाहतीं? अच्छा, चलो मैं नवल से कह दूँगा कि यह बेचारी कभी रोटी तक तो खाती ही नहीं, पूरी क्यों खाने लगी!"

इतना कहकर वंशीधर कोठरी के बाहर चले आये और बोले—"मैं तुम्हारे भैया के पास जाता हूँ। तुम रो-रुलाकर तैयार हो जाना।"

इतना सुनते ही जानकीदेई की आँखें भर आईं। और असाढ़-सावन की ऐसी झड़ी लग गई।

(२)

वंशीधर इलाहाबाद के रहनेवाले हैं। बनारस में ससुराल है। स्त्री को बिदा कराने आये हैं। ससुराल में एक साले, साली और सास के सिवा और कोई नहीं हैं। नवलकिशोर इनके दूर के नाते में ममेरे भाई हैं। पर दोनों में नाते से मित्रता का खयाल अधिक है। दोनों में गहरी मित्रता है। दोनों एक जान दो कालिब हैं।

उसी दिन वंशीधर का जाना स्थिर हो गया। सीता, बहन के संग जाने के लिए रोने लगी। माँ रोती-धोती लड़की की बिदा की सामग्री इकट्ठा करने लगी। जानकीदेई भी रोती ही रोती तैयार होने लगी। कोई चीज भूलने पर आवाज से माँ को याद भी दिलाती गई। एक बजने पर स्टेशन जाने का समय आया। अब गाड़ी या इक्का लाने कौन जाय? ससुरालवालों की अवस्था अब आगे की-सी नहीं कि दो-चार नौकर-चाकर हर समय बने रहें। सीता के बाप के न रहने से काम बिगड़ गया है। पैसेवाले के यहाँ नौकर-चाकरों के सिवा और भी दो चार खुशामदी घेरे रहते हैं। छूछे को कौन पूछे? एक कहारिन है; सो भी इस समय कहीं गई है। सालेराम की तबीयत अच्छी नहीं। वे हर घड़ी बिछौने से बातें करते हैं। तिस पर भी आप कहने लगे—"मैं ही धीरे-धीरे जाकर कोई सवारी ले आता हूँ। नजदीक तो है।" वंशीधर बोले—"नहीं, नहीं, तुम क्यों तकलीफ करोगे! मैं ही जाता हूँ।"

जाते जाते वंशीधर विचारने लगे कि इक्के की सवारी तो भले घर की स्त्रियों के बैठने के लायक नहीं होती। क्योंकि एक तो उतने ऊँचे पर चढ़ना पड़ता है; दूसरे पराये पुरुष के संग एक साथ बैठना पड़ता है। मैं एक पालकीगाड़ी ही कर लूँ। उसमें सब तरह का आराम रहता है।' पर जब गाड़ीवालों ने डेढ़ रुपया किराया माँगा, तब,

वंशीधर ने मन में कहा—"चलो इक्का ही सही। पहुँचने से काम। कुछ नवलकिशोर तो यहाँ से साथ हैं नहीं। इलाहाबाद में देखा जायगा।" वंशीधर इक्का ले आये और जो कुछ असबाब था इक्के पर रखकर आप भी बैठ गये। जानकीदेई बड़ी विकलता से रोती हुई इक्के पर जा बैठी। पर इस अस्थिर संसार में स्थिरता कहाँ? यहाँ कुछ भी स्थिर नहीं। इक्का जैसे जैसे आगे बढ़ता गया, वैसे ही वैसे जानकीदेई की रुलाई भी कम होती गई। सिकरौल के स्टेशन के पास पहुँचते-पहुँचते जानकीदेई अपनी आँखें अच्छी तरह पोंछ चुकी थी। दोनों चुपचाप चले जा रहे थे, कि अचानक वंशीधर की नजर अपनी धोती पर पड़ी; और—"अरे एक बात तो हम भूल ही गये।" कहकर पछता-सा उठे। इक्केवाले के कान बचाकर जानकीदेई ने पूछा,—"क्या हुआ? क्या कोई जरूरी चीज भूल आये?"

"नहीं, एक देशी धोती पहिनकर आना था, सो भूलकर विलायती ही पहन आये। नवल कट्टर स्वदेशी हुए हैं न? वे बंगालियों से भी बढ़ गये हैं। देखेंगे तो दो-चार सुनाये बिना न रहेंगे। और बात भी ठीक है। नाहक विलायती चीजें मोल लेकर क्यों रुपये की बरबादी की जाय? देशी लेने से भी दाम लगेगा सही; पर रहेगा तो देश में।"

जानकीदेई जरा भौंहें टेढ़ी करके बोली,—"उँह, धोती तो धोती; पहिनने से काम। क्या यह बुरी है?"

इतने में स्टेशन के कुलियों ने आ घेरा। वंशीधर एक कुली करके चले। इतने में इक्केवाले ने कहा,—"इधर से टिकट लेते जाइए! पुल के उस पार तो ड्योढ़े दरजे का टिकट मिलता है।"

वंशीधर फिरकर बोले,—"अगर मैं ड्योढ़े दरजे का ही टिकट लूँ तो?"

इक्केवाला चुप हो रहा। "इक्के की सवारी देखकर इसने ऐसा

कहा"—यह कहते हुए वंशीधर आगे बढ़े। यथासमय रेल पर बैठकर वंशीधर राजघाट पार करके मुगलसराय पहुँचे। वहाँ पुल लाँघकर दूसरे प्लेटफार्म पर जा बैठे। आप नवल से मिलने की खुशी में प्लेटफार्म के इस छोर से उस छोर तक टहलते रहे। देखते देखते गाड़ी का धुआँ दिखलाई पड़ा। मुसाफिर अपनी अपनी गठरी सँभालने लगे। रेलदेवी भी अपनी चाल धीमी करती हुई गम्भीरता से आ खड़ी हुई। वंशीधर एक बार चलती हुई गाड़ी ही में शुरू से आखीर तक देख गये। पर नवल का कहीं पता नहीं। वंशीधर फिर सब गाड़ियों को दोहरा गये, तेहरा गये; भीतर घुस घुस कर एक एक डिब्बे को देखा। किन्तु नवल न मिले। अन्त को आप खिजला उठे और सोचने लगे कि "मुझे अच्छा उल्लू बनाया। अच्छा जायेंगे कहाँ? भेंट होने पर समझ लूँगा।" सबसे अधिक सोच तो इस बात का था कि जानकी सुनेगी तो ताने पर ताना मारेगी। पर अब सोचने का समय नहीं। रेल की बात ठहरी। वंशीधर झट गये और जानकी को लाकर जनानी गाड़ी में बिठाया। वह पूछने लगी,—"नवल की बहू कहाँ है?" "वह नहीं आये, कोई अटकाव हो गया।" कहकर आप बगलवाले डिब्बे में जा बैठे। टिकट तो ड्योढ़े का था; पर ड्योढ़े का डिब्बा कलकत्ते से आनेवाले मुसाफिरों से भरा था। इसलिए तीसरे दरजे ही में बैठना पड़ा। जिस गाड़ी में वंशीधर बैठे थे उसके सब डिब्बे में मिलाकर कुल दस ही बारह स्त्री-पुरुष थे। समय पर गाड़ी छूटी। नवल की बातें, और न जाने क्या अगड़-बगड़, सोचते सोचते गाड़ी कई स्टेशन पास करके मिरजापुर पहुँची।

(३)

मिरजापुर में पेटराम की शिकायत शुरू हुई। उसने सुझाया कि इलाहाबाद पहुँचने में अभी देरी है। चलने के झंझट में अच्छी तरह

उसकी पूजा किये बिना ही वंशीधर ने बनारस छोड़ा था। इसलिए आप झट प्लेटफार्म पर उतरे; और पानी के बम्बे से हाथ-मुँह, धोकर, एक खोन्चेवाले से थोड़ी सी ताजी पूड़ियाँ और मिठाई लेकर, निराले में बैठ आपने उन्हें ठिकाने पहुँचाया। पीछे से जानकी की सुध आई। सोचा कि पहले पूछ लें, तब कुछ मोल लेंगे। क्योंकि स्त्रियाँ नटखट होती हैं। वे रेल पर खाना पसन्द नहीं करतीं। पूछने पर वही बात हुई। तब वंशीधर लौटकर अपने डिब्बे में आ बैठे। यदि वे चाहते तो इस समय ड्योढ़े में बैठ जाते; क्योंकि अब भीड़ कम हो गई थी। पर उन्होंने कहा, थोड़ी देर के लिए कौन बखेड़ा करे।

वंशीधर अपने डिब्बे में बैठे तो दो एक मुसाफिर अधिक देख पड़े। आगेवालों में से एक उतर भी गया था। जो लोग थे सब तीसरे ही दरजे के योग्य जान पड़ते थे, अधिक सभ्य कोई थे तो वंशीधर ही थे। उनके डिब्बे के पासवाले डिब्बे में एक भले घर की स्त्री बैठी थी। वह बेचारी सिर से पैर तक ओढ़े, सिर झुकाये, एक हाथ लम्बा घूँघट काढ़े, कपड़े की गठरी-सी बनी बैठी थी। वंशीधर ने सोचा कि इनके संगवाले भद्र पुरुष के आने पर उनसे बातचीत करके समय बितावेंगे। एक-दो करके तीसरी घंटी बजी। तब वह स्त्री कुछ अकचकाकर, थोड़ा-सा मुँह खोल, जँगले से बाहर देखने लगी। ज्यों ही गाड़ी छूटी, वह मानो काँप-सी उठी। रेल का देना लेना तो हो ही गया था। अब उसको किसी की क्या परवाह? वह अपनी स्वाभाविक गति से चलने लगी। प्लेटफार्म पर भीड़ भी न थी। केवल दो चार आदमी रेल की अन्तिम विदाई तक खड़े थे। जब एक स्टेशन दिखलाई दिया तब तक वह बेचारी बाहर ही देखती रही। फिर अस्पष्ट स्वर से रोने लगी। उस कमरे में तीन चार प्रौढ़ा ग्रामीण स्त्रियाँ भी थीं। एक, जो उसके पास ही थी, कहने लगी—

"अरे इनकर मनई तो नाहीं अइलेन। हो देख हो रोवल करथईन।"

दूसरी—"अरे दुसर गाड़ी में बैठा होई हैं।"

पहली—"दुर बौरही! ई जनानी गाड़ी थोड़े है।"

दूसरी—"तऊ हो भलू तो कहू।" कहकर दूसरी भद्र महिला से पूछने लगी,—"कौने गाँव उतरबू बेटा! मीरजैपूरा चढ़ी हऊ न?" इसके जवाब में उसने कहा सो वह न सुन सकी। तब पहली बोली—"हट हम पुँछिलान; हम कहा काहां ऊतरबू हो? आँय ईलाहाबास"?

दूसरी—"ईलाहाबास कौन गाँव हो गोइँयाँ?"

पहिली—"अरे नाही जनँलू? पैयाग जो जाहाँ मनई मकर नाहाए जाला।"

दूसरी—"भला पैयाग जी काहे न जानीथ, ले, कहै के नाही, तोहरे पच के धरम से चार दाँई नहाए चुकी हइ। एसों हो सोमवारी, अउर गहन, दका, दका, लाग रहा तउन तोहरे काशी जी नाँहाय गइ रहे!"

पहिली—"आवे जायके तो सब अउते जाता बटले बाटेन। फुन यह साइत बिचारो बिपत में न पड़ल बाटिन। हे हम पचाहइ, राजघाट टिकस कटऊली; मोगल के सरायँ उतरलीह; होदे पुनः चढलीह।"

दूसरी—ऐसे एक दाँइ हम आवत रहे। एक मिली औरो मोरे सँघे रही। द कौने टिसनीया पर उकर मलिकवा उतरे से कि जुरतँइ हैं गड़िया खुली। अब भईया उः गरा फाड़ फाड़ नरियाय—ए साहब गड़िया खड़ी कर! ए साहब तँनी खड़ी कर। "भला गड़िया दहिनाती काहै के खड़ी होय?"

पहली—"उ मेहररूवा बड़ी उजबक रहल। भला केहू के चिल्लाए से रेलीऔ कहूँ खड़ी होला?"

इसकी इस बात पर कुल कमरेवाले हँस पड़े। अब जितने पुरुष-स्त्रियाँ थीं; एक से एक अनोखी बातें कहकर अपने अपने तजुरबे बयान करने लगीं। बीच-बीच में उस अकेली अबला की स्थिति पर भी दुःख प्रकट करती जाती थीं।

तीसरी स्त्री बोली—"टीकसिया पल्ले बाय द नाँही! सहेबवा सुनि तो कलकत्ते ताईं ले मसुलिया लेई। अरे इहो तो नाँही कि दूर से आवत रहलेन, फरागत के बदे उतरलेन।"

चौथी—"हम तो इनके सँघे के आदमी के देखबो न किहा गोइयाँ!"

तीसरी—"हम देखे रहली हो, मजेक टोपी दिहले रहलेन की।"

इस तरह उनकी बे सिर-पैर की बातें सुनते सुनते वंशीधर ऊब उठे। तब वे उन स्त्रियों से कहने लगे—

"तुम तो नाहक उन्हें और भी डरा रही हो। जरूर इलाहाबाद तार गया होगा और दूसरी गाड़ी से वे भी वहाँ पहुँच जायँगे। मैं भी इलाहाबाद ही जा रहा हूँ। मेरे संग भी स्त्रियाँ हैं। जो ऐसा ही है तो दूसरी गाड़ी के आने तक मैं स्टेशन ही पर ठहरा रहूँगा। तुम लोगों में से यदि कोई प्रयाग उतरे तो थोड़ी देर के लिए स्टेशन पर ठहर जाना। इनको अकेले छोड़ देना उचित नहीं! यदि पता मालूम हो जायगा तो मैं इन्हें इनके ठहरने के स्थान पर भी पहुँचा दूँगा।"

वंशीधर की इन बातों से उन स्त्रियों की वाक्यधारा दूसरी ओर बह चली,—"यह बात तो आप भल कही। नाहीं भइया! हम पचे काहिके केहू से कुछ कही। अरे एक के एक करत

न बाय तो दुनिया चलत कैसे बाय ?" इत्यादि ज्ञान-गाथा होने लगी। कोई कोई तो उस बेचारी को सहारा मिलते देख खुश हुए और कोई कोई नाराज भी हुए। क्यों, सो मैं आप से नहीं बतला सकता। उस गाड़ी में जितने मनुष्य थे, सभी ने इस विषय में कुछ न कुछ कह डाला था। पिछले डिब्बे में केवल एक स्त्री जो फरासीसी छींट की दुलाई ओढ़े अकेली बैठी थी, कुछ नहीं बोली। कभी कभी घूँघट के भीतर से एक आँख निकालकर वंशीधर की ओर वह ताक देती थी और, सामना हो जाने पर, फिर मुँह फेर लेती थी। वंशीधर सोचने लगे कि "यह क्या बात है? देखने में तो यह भले घर की मालूम होती है, पर आचरण इसका अच्छा नहीं।"

गाड़ी इलाहाबाद के पास पहुँचने को हुई। वंशीधर उस स्त्री को धीरज दिलाकर आकाश-पाताल सोचने लगे। यदि तार में कोई खबर न आई होगी तो दूसरी गाड़ी तक स्टेशन पर ही ठहरना पड़ेगा। और जो उससे भी कोई न आया तो क्या करूँगा? जो हो गाड़ी नैनी से छूट गई। अब साथ ही उन अशिक्षित स्त्रियों ने फिर मुँह खोला। "क भइया, जो केहू बिन टिक्कस के आवत होय तो ओकर का सजाय होला?" "अरे ओका ई नाही चाहत रहा कि मेहरारू के तो बैठा दिहलेन, अउर अपुआ तऊन टिक्कस लेई के चल दिहलेन।" किसी किसी आदमी ने तो यहाँ तक दौड़ मारी कि रात में वंशीधर इसके जेवर छीनकर रफूचक्कर हो जायँगे। उस गाड़ी में एक लाठीवाला भी था। उसने खुल्लमखुल्ला कहा—"का बाबू जी! कुछ हमरो साझ?" इसकी बात पर वंशीधर क्रोध से लाल हो गये। उन्होंने उसे खूब धमकाया। उस समय तो वह चुप हो गया; पर इलाहाबाद उतरता तो वंशीधर से बदला लिये बिना न रहता।

(४)

वंशीधर इलाहाबाद में उतरे। एक बुढ़िया को भी वहीं उतरना था। उससे उन्होंने कहा कि—"उनको भी अपने संग उतार लो।" फिर उस बुढ़िया को उस स्त्री के पास बिठाकर आप जानकी को उतारने गये। जानकी से सब हाल कहने पर वह बोली—"अरे जाने भी दो; किस बखेड़े में पड़े हो।" पर वंशीधर ने न माना। जानकी को और उस भद्र महिला को एक ठिकाने बिठाकर आप स्टेशन मास्टर के पास गये। वंशीधर के जाते ही वह बुढ़िया, जिसे उन्होंने रखवाली के लिए छोड़ा था, किसी बहाने भग गई। स्टेशन मास्टर से पूछने पर मालूम हुआ कि कोई तार नहीं आया। अब तो वंशीधर बड़े असमञ्जस में पड़े। टिकट के लिए बखेड़ा होगा। क्योंकि वह स्त्री बे-टिकट है। लौटकर आये तो किसी को न पाया। "अरे ये सब कहाँ गईं ?" यह कहकर चारों तरफ देखने लगे। कहीं पता नहीं। इस पर वंशीधर घबराये।" आज कैसी बुरी साइत में घर से निकले कि एक के बाद दूसरी आफत में फँसते चले आ रहे हैं।" इतने में आपने सामने दुलाईवाली को आते देखा। "तू ही उन स्त्रियों को कहीं ले गई है।" इतना कहना था कि दुलाई से मुँह खोलकर नवलकिशोर खिलखिला उठे।

"अरे, यह क्या ? सब तुम्हारी ही करतूत है ! अब मैं समझ गया। कैसा गजब तुमने किया है ? ऐसी हँसी मुझे नहीं अच्छी लगती। मालूम होता है वह तुम्हारी ही बहू थी। अच्छा, तो वे लोग गईं कहाँ ?"

"वे लोग तो पालकी गाड़ी में बैठी हैं। तुम भी चलो।"

"नहीं मैं सब हाल सुन लूँगा तब चलूँगा। हाँ यह तो कहो, तुम मिरजापुर में कहाँ से आ निकले ?"

"मिरजापुर नहीं मैं तो कलकत्ते से, बल्कि मुगलसराय से, हारे साथ चला आ रहा हूँ। तुम जब मुगलसराय में मेरे लिए क्कर लगाते थे तब मैं ड्योढ़े दरजे में ऊपरवाले बेंच पर लेटे तुम्हारा ाशा देख रहा था। फिर मिरजापुर में जब तुम पेट के धन्धे में लगे , मैं तुम्हारे पास से निकल गया पर तुमने न देखा। मैं तुम्हारी गाड़ी जा बैठा। सोचा कि तुम्हारे आने पर प्रकट होऊँगा। फिर थोड़ा ौर देख लें, करते करते यहाँ तक नौबत पहुँची। "अच्छा अब चलो, ा हुआ उसे माफ करो!"

यह सुनकर वंशीधर प्रसन्न हो गये। दोनों मित्रों में बड़े प्रेम से तचीत होने लगी। वंशीधर बोले—'मेरे ऊपर जो कुछ बीती सो ती, पर वह बेचारी, जो तुम्हारे से गुनवान के संग पहली ही बार ञ से आ रही थी, बहुत ही तंग हुई। उसे तो तुमने नाहक रुलाया।" ह बहुत ही डर गई थी।

"नहीं जी! डर किस बात का था? हम, तुम दोनों गाड़ी में थे?"

"हाँ, पर यदि मैं स्टेशन मास्टर से इत्तला कर देता तो बखेड़ा ड़ा हो जाता न?"

"अरे तो क्या मैं मर थोड़े ही गया था! चार हाथ की दुलाई ी बिसात ही कितनी?"

इसी तरह बातचीत करते करते दोनों गाड़ी के पास आये, देखा ा दोनों मित्र-वधुओं में खूब हँसी हो रही है। जानकी कह रही थी— 'अरे तुम जानो क्या! इन लोगों की हँसी ऐसी ही होती है। हँसी में केसी के प्राण भी निकल जायँ तो भी इन्हें दया न आवे।"

खैर दोनों मित्र अपनी अपनी घरवाली को लेकर राजी-खुशी र पहुँचे और मुझे भी उनकी यह राम-कहानी लिखने से छुट्टी मिली।

मालगोदाम में चोरी

[श्री गोपालराम गहमरी]

(१)

आज डुमराँव स्टेशन से राजप्रासाद तक बड़ी धूम है। ट्राफिक सुपरिंटेंडेंट के दफ्तर से तार-पर-तार चल रहा है। दीनापुर से डुमराँव तक सिग्नेलरों का नाकोंदम है। एक खबर (मैसेज) फारवर्ड होते देर नहीं कि दूसरी के लिए तार-बाबू टेलीग्राफ-इन्स्ट्रूमेण्ट पर रोल करते हैं। डी० टी० एस० के आफिस से एक को मंसूख करनेवाला, दूसरा फिर उसको कैंसल करनेवाला, तीसरा, इसी तरह लगातार आर्डरों का तार लग रहा है। होते होते कोई बीस घण्टे के बाद ट्राफिक सुपरिंटेंडेंट के यहाँ से स्टेशन-मास्टर को तार आया कि मालगोदाम जैसे का तैसा बन्द रखो, जासूस जाता है। बस, अब सब लोग अपने मन की घबराहट मन ही में दबाये जासूस की राह देखने लगे। इधर नगर में कोलाहल मचा। बिसेसर हलवाई अपनी दूकान पर बैठा पंखे से मगदल की मक्खी हाँकता हुआ कहने लगा—"दादा, इसी टेसन में मिठाई बेचते बाल पके, लेकिन ऐसी चोरी किसी बड़े बाबू के बखत में नहीं हुई। ताला-चाभी सब बन्द का बन्द और भीतर से गाँठ गायब !"

मगदल खरीदनेवाला कहता है—"कहो बिसेसर ! जब चाभी बाबू के पास रही, तब दूसरा कौन चुरा सकता है ?"

हलवाई—"चाभी रहती है तो क्या बाबू पहरा देते हैं ? अरे, जब गाड़ी आई, पसिंजर से पार्सल उतरा, तभी खलासी चाभी उनसे माँग लाता है और आप खोलकर पार्सल रखता और बन्द करके चाभी

बाबू के हवाले करता है। खलासी अगर निकाल ले, तो बाबू लोग क्या करेंगे ?"

ग्राहक—"लेकिन भई, लोग कहते हैं कि मन भर से भी कम की गठरी थी, तब उसमें पाँच हजार के कपड़े कैसे बन्द थे !"

दूकान के सामने ही कड़ाही मलता हुआ मुसवा कहार आँख बदलकर और हाथ मटका कर कहता है—"अरे तुम भी घच्चू हो कि आदमी ! गाँठ में हमारे तुम्हारे वास्ते खारुआँ मारकीन थोड़े रहा। महाराज के घर सादी है, कलकत्ता से रेसमी कपड़ा, साल-दुसाला, लोई अलुयान उसमें चलान हुआ रहा कि खेल है। कितने ही हजार का तो उसमें रेसम भरा रहा।"

हलवाई—"अरे हजार-लाख पर कुछ अचरज नहीं, न चोरी जाना अचरज है। बात यह कि बाहर से ताला बन्द का बन्द और भीतर गाँठ नदारद है ! उस रोज बाबू कहते हैं, रात की पसिंजर से एक सन्दूक और गाँठ दो ही तो उतरा था। उस घर में और कोई माल नहीं था। लेकिन सबेरे देखा गया तो उसमें से कपड़े की गाँठ नदारद है और सन्दूक जैसी की तैसी जहाँ की तहाँ पड़ी है। जहाँ गाँठ थी वहाँ कुछ खर, कुछ ईंट और एक लम्बा पत्थर पड़ा मिला !"

इतने में एक दाई माथे पर जल भरा घड़ा लिये हलवाई की दूकान में आई और सिर से उतारते उतारते बोली—"ए दादा, कवन सा पुलुसवाला बड़ा साहब आया है। सब सिपाही दरोगा उसके आगे हाथ जोड़ कर सलाम करने गये है। कुलदिपवा कहत रहा कि कलकत्ता से पुलुस का बड़ा साहब आया है। यही सब का मालिक है। उधिर महल में मारे अमला फैला के खमखम हो रहा है।"

बिसे०—"अरे नहीं रे पगली ! जासूस आने को रहा, वही

आया होगा। अभी मालगाड़ी गई है न, उसी में आया होगा। कल सबेरे ही उसके आने की खबर आई रही।"

ग्राहक—"जासूस कैसा?"

बिसे०—"जासूस यही पुलीसवाले होते हैं। यहाँ की यह पुलीस जैसे वरदी पहनती है वह लोग वैसी नहीं पहनते। वह बिलकुल सीधे-सादे रहते हैं। उनका चपरास भी कमर में होता है! कोई देख कर नहीं पहचान सकता कि वह लोग पुलीसवाले हैं। देख रे सुखना, जरा दूकान देख, तो मैं भी देख आऊँ।"

इतना कहता हुआ हलवाई अपने लड़के सुक्खन को दूकान सौंपकर स्टेशन को चला। वहाँ मालगोदाम के दरवाजे पर लोगों की बड़ी भीड़ देखी। दो कानिस्टेबिल बाहर लोगों को अलग करने में लगे हैं। मालगोदाम का दरवाजा खुला है। स्टेशन-मास्टर चौकीदार और चार खलासियों के साथ भीतर एक बाबू को सब दिखा रहे हैं।

वह बाबू मालगाड़ी से अभी उतरा है। गाड़ी से उतरते ही मालगोदाम में जाकर देखा तो वहाँ एक ओर कुछ पयार पड़ा है, कुछ ईंट और एक पत्थर की पटिया पड़ी है।

मालगोदाम भीतर बहुत साफ है। अभी दो ही रोज हुए, ऊपर सफेदी की गई है। कमर से ऊपर ऊँचाई तक चारों ओर की दीवारों में काला अलकतरा पोता गया है। अब वह सूख चला है। धरती पर खूब सफ़ाई है, लेकिन जहाँ पत्थर, ईंट और खर पड़ा है, वहीं सफाई नहीं है। बाबू ने कमरे को अच्छी तरह देखकर स्टेशनमास्टर से कहा—"अच्छा आप अपने आदमियों के साथ बाहर जाइए। मैं थोड़ी देर तक इस गोदाम का दरवाजा बन्द करके भीतर बैठूँगा।"

यही बाबू ट्राफिक सुपरिंटेंडेंट के भेजे हुए जासूस हैं। जैसा उन्होंने कहा, स्टेशनमास्टर ने वैसा ही किया। सब खलासी और चौकीदारों

के साथ वह बाहर हो गये। बाबू ने दरवाजा लगाकर भीतर देखना शुरू किया। मकान की एक-एक ईंट पर सनीचर की दीठ से देखने लगे।

देखते-देखते दीवार पर एक जगह नजर पड़ी। जान पड़ा कि वहाँ का रंग किसी ने पोंछ लिया है। बाबू ने पास जाकर देखा तो मालूम हुआ कि थोड़ी जगह का रंग किसी ने कपड़े से पोंछा है। उसके दाहिने-बायें भी पाँचों उँगलियों के दो जगह निशान मिले। बाबू ने अकचकाकर देखा। चेहरे का रंग बदल रहा था, थोड़ी देर बाद आप ही आप बोल उठे—"चोर शाला जल्दी में दीवार पर गिरा है। पीठ उसका रंग में चफन गया है। उसको सँभालने के वास्ते उसने दोनों हाथ से दीवार का सहारा लिया है, इसी से उँगलियों के साथ हथेली दीवार पर जोर से पड़ी है और दोनों हाथों का निशान बीच में कमर के दाहिने-बायें उखड़ आया है।" वहीं बड़ी देर तक खड़े खड़े बाबू साहब देखते रहे। खूब अच्छी तरह देखने पर मालूम हुआ कि उसके बायें हाथ की सबसे छोटी उँगली टूटी है या कट गई है। उसका निशान बहुत छोटा है। बाकी सब उँगलियों का निशान ठीक है।

बाबू ने जेब से एक पाकिटबुक निकालकर यह बात नोट कर ली। फिर उनकी नजर आगे-पीछे, दाहिने-बायें चलने लगी। दरवाजे के सामने ही की दीवार में दूसरा दरवाजा है। स्टेशनमास्टर से मालूम हुआ कि वह सदा बन्द रहता है। इस वक्त रोशनी आने के लिये बाबू ने उसी को खोल रखा है। उसी की रोशनी में बाबू यह सब देख रहे हैं। नोट करनेवाली पेंसिल एक हाथ में और नोटबुक दूसरे हाथ में अभी मौजूद है। बाबू की नजर बन्द दरवाजे पर पड़ी, तो एकदम चेहरा ख़ुश हो गया। किवाड़ के पास जाकर देखा तो एक पर दो जगह पाँच उँगलियों का अलकतरा पोंछा गया है। दूसरे पर धोती का रंग घिसा गया है। कितना ही घिसा जाय लेकिन छूटा नहीं है; तो भी

बायें हाथ की उँगलियों का निशान देखने से बाबू का चेहरा खिल उठा। उसने देखा तो उसमें भी छोटी (कनिष्ठिका) उँगली का छोटा-सा निशान है। डिटेक्टिव ने मन में कहा—"चोर चाहे जो हो, लेकिन जो वहाँ दीवार पर गिरकर दोनों हाथों से सँभला है उसी ने अपनी धोती और दोनों हाथ का अलकतरा किवाड़ पर पोंछा है और उसके बायें हाथ की उँगली कटी या टूटी है।" बस, इसके सिवा उस गोदाम में और कुछ भी काम की चीज जासूस ने नहीं पाई। ईंट पर कोई खास निशान नहीं, न पत्थर से चोर का कुछ पता चलनेवाला था। खर जो बहुत-सा पड़ा था उसको इधर-उधर उलटा तो उसमें दो कागज पाया। एक पोस्टकार्ड और एक हिन्दी अखबार। अखबार का नाम 'भारतमित्र' देखकर डिटेक्टिव ने आप ही आप कहा—"यह खबर का कागज कलकत्ते का है।" और पोस्टकार्ड पढ़ा तो हिन्दी में लिखा था। लिखनेवाले ने बनारस के शिवाला डाक-घर से छोड़ा था। उस पर डाकखाने की मुहर थी। कलकत्ता पहुँचने की तारीख जब मुहर में डिटेक्टिव ने देखी तब उसने कहा—"चिट्ठी देखने में जैसी पुरानी मालूम होती है, तारीख से वैसी नहीं है।" पते की तरफ पढ़ा तो 'लच्छन कहार, सुगनचन्द, सोहागचन्द, नं० ३७, काटन स्ट्रीट, कलकत्ता, लिखा था। लेकिन चिट्ठी मुड़िया (मारवाड़ी) में लिखी थी, बङ्गाली बाबू से पढ़ी नहीं गई। अब उसे जेब में रख कर उस बड़े कागज को देखने लगे। ऊपर ही बड़े-बड़े अक्षरों में 'भारतमित्र' छपा देखा। उसी के नीचे हाथ से किसी ने लाल रोशनाई से 'भारत-मित्र' छोटे-छोटे हरफों में लिखा था। डिटेक्टिव ने उलट-पुलटकर अच्छी तरह देखा, लेकिन और कुछ भी काम की बात उसमें नहीं पाई। निराश होकर चाहता था कि मोड़कर उसे भी जेब के हवाले करे, लेकिन मोड़ने से पहले ही कागज पर एक ऐसी जगह जासूस की नजर

गई जहाँ हाथ से अँगरेजी में कुछ लिखा हुआ दीख पड़ा। मालूम हुआ कि किसी ने उस पर भी 'सुगनचन्द सोहागचन्द, नं० ३७, काटन स्ट्रीट, कलकत्ता' लिखा है। "जिसकी चिट्ठी है, उसी का अखबार भी है। लेकिन अँगरेजी जिसकी लिखी है वह अभी हरफ बनाना सीखता है।" कहते हुए जासूस ने कागज भी जेब के हवाले किया। अब गोदाम में और कुछ काम की चीज न पाकर वह बाहर आया।

(२)

बाहर स्टेशनमास्टर बेंच पर बैठे डिटेक्टिव की राह ताकते थे। जासूस ने उनको पाकर पूछा—"आप कहते हैं कि रात को गोदाम में दो पार्सल थे; सो सन्दूक कहाँ है?"

स्टे० मा०—"सन्दूक तो जिसकी थी वह ले गया।"

जा०—"उसकी डेलीवरी आप ही ने की है?"

स्टे० मा०—"नहीं, असिस्टेण्ट स्टेशनमास्टर ने की है। लेकिन उसमें कुछ सन्देह की बात नहीं है। जैसा ताला बन्द था, वैसा पाया गया है। चाभी स्टेशनमास्टर-आन-ड्यूटी के पास ही थी। उसी सन्दूक की डेलीवरी देने के लिए गोदाम खोला, तो सन्दूक मिली, लेकिन कपड़े की गाँठ नहीं थी। उसकी जगह पर ईंट-पत्थर मिला। न जाने गाँठ को कोई भूत उठा ले गया, या जिन उड़ा ले गया!"

जा०—"हाँ, उस जिन को तो मैं समझ चुका हूँ। आप अपने स्टेशन के सब नौकरों को बुलाइए, मैं सब की सूरत देखूँगा।"

तुरन्त ही स्टेशनमास्टर ने हुक्म दिया; खलासी, सिगनलमैन, चौकीदार, असिस्टेण्ट, सब जासूस के सामने हाजिर हुए। सबके कपड़े और उँगली देखने पर उस टूटी उँगलीवाले का पता नहीं चला।

तब सबको छोड़कर जासूस स्टेशनमास्टर को अलग ले गया और पूछा—"आपके स्टेशन में ऐसा कोई आदमी आता है जिसके बायें हाथ की उँगली टूटी हो ?"

स्टेशनमास्टर ने कहा—"नहीं साहब, ऐसा तो कोई आदमी यहाँ नहीं आता।"

जासूस ने उनसे अपने मतलब की कोई बात पाने का भरोसा न देखकर असिस्टेण्टों का पीछा किया। जिसकी ड्यूटी में पार्सल आये थे और जिसने डेलीवरी दी, उससे अलग-अलग दो बार मिलकर सब बातें पूछने से मालूम हुआ कि कपड़े की गाँठ पार्सल में और सन्दूक लगेज में आई थी। सन्दूक बड़ी लम्बी-चौड़ी और खूब ऊँची थी। लगेज-रसीद लेकर दूसरे दिन जो आदमी माल छुड़ाने आया था वह एक भले आदमी की सूरत का था। उसको बाबू ने पहले कभी डुमराँव में देखा था सो याद नहीं है ! कभी की मुलाकात न होने पर भी बड़ी भलमनसाहत और नरमी से बोलता था। एक गौ गाड़ी पर कई कुलियों से अपना माल चढ़ाकर ले गया। 'सन्दूक बहुत लम्बी-चौड़ी है। कहने पर कुलियों से उसने बयान किया—"मुसाफिर आदमी है। सब कपड़ा-लत्ता, अरतन-बरतन इसी में रखता है। इसी से इतनी बड़ी सन्दूक है।"

जिन कुलियों ने सन्दूक गोदाम से ले जाकर बैलगाड़ी पर चढ़ाई थी, उनसे-घुमा फिराकर पूछने पर मालूम हुआ कि वह सन्दूकवाला डुमराँव में पहले-पहल आया था। राजा साहब के यहाँ नौकरी करने के इरादे से दूसरे रोज दरबार में जायगा। अभी कोई किराये का मकान लेकर ठहरेगा। सन्दूक बहुत बड़ी है। सब सामान साथ में रखता है। अगर जल्दी कोई किराये का मकान भी नहीं मिले तो बस्ती में किसी पेड़ के नीचे ठहरकर दो-एक दिन काट सकता है। कुलियों ने यह भी

कहा कि नहीं, ऐसी तकलीफ नहीं होगी। यहाँ लोगों को ठहरने के वास्ते सराय बनी है। वह वहाँ चाहे तो ठहर सकता है।

इतना हाल मालूम करने पर जासूस मन ही मन सब बातों पर विचार करने लगा। उसके मन में इतनी बातें उठीं—

१—बड़ा पेचदार मामला है। गोदाम के दोनों दरवाजे बन्द हैं, कहीं कोई खिड़की-जँगला भी नहीं है, फिर चोर कहाँ से आया?

२—चोर नहीं आया तो क्या छोटे ही बाबू ने चुराया? लेकिन उस गोदाम की चाभी उसी के पास थी। जो उसका मालिक है, जिस पर उसकी जवाबदेही है, जिसके पास उसकी चाभी है, वह तो कभी चुरा नहीं सकता।

३—चोर तो भीतर जरूर घुसा है। उसके बायें हाथ की छोटी उँगली टूटी थी, यह भी मालूम हुआ। लेकिन किधर से घुसा और किधर से गया? फिर गाँठ की गाँठ उड़ा ले गया!

४—और अकचाहट की बात यह है कि गाँठ के बदले ईंट-पत्थर और खर रख गया। यह अजब गोरखधन्धा की बात है। चोर अपने साथ ईंट-पत्थर और पयार कहाँ से और क्यों लाया था? और माल चुराकर यहाँ रख जाने का क्या सबब है?

५—पयार में दो कागज मिले। दोनों सुगनचन्द सोहागचन्द से मतलब रखते हैं। लेकिन कार्ड पर 'लच्छनलाल, केअर आफ सुगनचन्द सोहागचन्द' लिखा है। क्या जाने, यह महाजन कुछ इसका भेद जानता हो। लेकिन इस गाँठ का भेजनेवाला यही सुगनचन्द सोहागचन्द है, तब वह चोर हो नहीं सकता।

६—अगर सुगनचन्द सोहागचन्द ही चोर हो, तो गाँठ क्या जादू की थी जो यहाँ तक आई और मालगोदाम से गायब हो गई? इसका कुछ भेद नहीं मिलता।

७—सन्दूक का मालिक तो इसमें कुछ चालाक नहीं मालूम देता। कुली से लेकर बाबू तक उसकी बड़ाई करते हैं। वह पहले पहल डुमराँव में आया है, इतनी बात कुछ सन्देह की है। लेकिन इसके वास्ते इस सुगनचन्द महाजन को हाथ से छोड़ना ठीक नहीं है।

८—पहले उस महाजन को देखना और फिर लच्छनलाल की चिट्ठी पढ़ाना चाहिए। क्या जाने उससे कुछ काम बने।

९—यह काम महाजन का तो नहीं है, क्योंकि भेजनेवाला वही है। अगर गाँठ में ईंट-पत्थर भेजकर महाराज को ठगना चाहता, तो मालगोदाम से गाँठ गायब होने का क्या मतलब है? किसी तरह महाजन पर सन्देह नहीं जाता। लेकिन लच्छन अलबत्ते लच्छनदार मालूम होता है।

१०—चोर चाहे कोई हो, वह भेदू है। गाँठ का हाल जानता था। बाहर का चोर हरगिज़ नहीं आया।

११—लेकिन जानिबकार चोर बाबू के सिवाय और किसी को नहीं कह सकते और ऐसी हालत में बाबू को चोर समझते भी कलेजा काँपता है।

१२—जो हो, बात बड़ी पेचदार है, चोर बड़ा ही चालाक है। उसने अपनी चतुराई से मामले के चारों ओर ऐसी मोरचेबंदी की है कि बुद्धि को घुमाने की साँस नहीं दीखती।

इसी तरह आगे-पीछे, दाहिने-बायें सब सोच-विचार करके पीछे जासूस स्टेशनमास्टर से मिला और उसने मन की मन ही में दबाकर कहा—"अब हम जावेंगे।"

स्टेशनमास्टर ने कहा—"जाने के वास्ते तो डाकगाड़ी ने बक्सर छोड़ा है। आप उसी में जा सकते हैं। लेकिन इस चोरी का कुछ कूल-किनारा आपने पाया या अँधेरे का अँधेरे ही में रहेगा?"

जा०—"अभी आप इसकी कुछ बात मत पूछिए। एक जरूरी काम के वास्ते मैं कलकत्ते जाता हूँ। वहाँ से लौटकर आपसे मिलूँगा।"

स्टे० मा०—"अच्छा आप जाइए। लेकिन बाबू साहब! इतना हम कहेंगे कि स्टेशनमास्टरी में मैं बूढ़ा हो गया। अब मरने का दिन पास आया है, लेकिन ऐसी चोरी न कभी देखी न सुनी।"

जा०—"हमको यह चोरी कुछ चक्करदार मालूम होती है, लेकिन इतना हम कहते हैं कि चोरी करनेवाला कोई पक्का खिलाड़ी है। वह भेदी है। भीतर का हाल जानता था। बाहर से चोर नहीं आया।"

स्टे० मा०—"लेकिन गाँठ की जगह ईंट-पत्थर कहाँ से रख गया। वह भी ऐसे कि इस तरफ की ईंटों से नहीं मिलतीं। पत्थर पर भी पेटेग्टस्टोन खुदा हुआ है। ऐसा पत्थर भी हमने कभी नहीं देखा था।"

जा०—"आप कभी कलकत्ते नहीं गये ?"

स्टे० मा०—"नहीं, कलकत्ते तो नहीं गया! कई पुश्त से मैं मेमारी ही में रहता हूँ।"

जा०—"इसी से पत्थर आपके लिये नया मालूम हुआ। ऐसी ईंटें भी कलकत्ते में बहुत काम आती हैं।"

स्टे० मा०—"तो कलकत्ते से क्या गाँठ में बन्द करके यही सब आया था ?"

जा०—"यह सब अभी आप मत पूछिए। लौटकर मैं सब बतलाऊँगा।"

स्टे० मा०—"अच्छा, आप और सब लौट कर बतलाइएगा, लेकिन यह जो कहा कि चोर बाहर से नहीं आया, इसका मतलब

मैंने नहीं समझा। बाहर से आपका क्या मतलब? चोर स्टेशन के आदमियों से बाहर का नहीं है या गोदाम के बाहर से नहीं आया?"

जा०—"यह भी गूढ़ बात है। अब गाड़ी आती है। बाकी बात लौटने पर।"

इतने में घंटी बजी। गाड़ी इन-साइट हुई। उसी पर सवार होकर जासूस कलकत्ते को रवाना हुआ।

(३)

कलकत्ता पहुँचकर जासूस सुगनचन्द सोहागचन्द से मिला। महाजन से मालूम हुआ कि वह अखबार 'भारतमित्र' मँगाया करता है, लेकिन उसको पढ़ लेने के बाद कौन कहाँ ले गया, इसकी खबर नहीं रखता। पोस्टकार्ड भी कब आया, किसके पास आया, इसका कुछ हाल मालूम नहीं है। लच्छन नाम का एक कहार उस कोठी में नौकर है। वह कई रोज से बीमार होकर अपने चाचा के यहाँ गया है। उसका चाचा कहाँ रहता है, इसका पता महाजन से नहीं मालूम हुआ।

जासूस ने मन में कहा कि लच्छन को जो डुमराँव ही में मैंने लच्छनदार समझा था, सो सचमुच यही चोर है क्या! फिर थोड़ी देर तक कुछ सोचकर महाजन से पूछा—"तो उस कहार का काम कौन करता है?"

महा०—"काम के वास्ते तो उसी ने अपनी जान-पहचान के एक आदमी को यहाँ कर दिया है। यह भी उसका कोई नातेदार ही है। लेकिन आप यह सब क्यों पूछते हैं, सो तो कहिए!"

जा०—"मेरे पूछने का मतलब आप नहीं जानते। आपके यहाँ से कुछ माल डुमराँव को चालान हुआ है?"

महा०—"हाँ, चालान तो हुआ है। लेकिन सुनते हैं वह तो गाँठ की गाँठ ही किसी ने चुरा ली है।"

जा०—"हाँ, चुरा तो ली है। और उसकी जगह पर ईंट-पत्थर रख गया है।"

महा०—"यह तो बड़े अचरज की बात है। डुमराँव में भी कलकत्ते के बदमाश पहुँच गये हैं क्या?"

जा०—"देखिए, कहाँ का बदमाश गया है, सो तो मालूम ही हो जायगा। लेकिन चोर बड़ा चालाक है।"

महा०—"हम भी इस चोरी का सब हाल सुनकर अकचका गये। ताला बन्द का बन्द और गाँठ गायब। डुमराँव का स्टेशन भी तो कलकत्ता हो रहा है।"

अब पोस्टकार्ड पढ़ाने से मालूम हुआ कि लच्छन के बाप का लिखा है। पन्द्रह दिन में रुपया भेजने को कहता है।

"अच्छा, अब जाता हूँ। फिर जरूरत होने पर मिलूँगा।" कहकर जासूस कोठी से उतरकर चलता हुआ। डेरे पर पहुँचकर जासूस ने चिट्ठी बाँटनेवाले पोस्ट-पियून का रूप बनाया। कमर में चपरास और सिर पर दुरङ्गी पगड़ी रखी। कन्धे में तोबड़ा लटकाकर खासा डाकपियून बन गया। हाथ में छाता लिये ग्यारह बजते-बजते सुगनचन्द सोहागचन्द की कोठी पर जा पहुँचा। इस बार ऊपर न जाकर नीचे ही रहा। पानी के कल पर वह कहार बरतन मलता मिला। सामने दो कनस्तरों में पानी भरा था।

चिट्ठी बाँटनेवाले का रूप बनाये हुए जासूस ने उस कहार से पूछा—"क्यों जी, लच्छन कहार तुम्हारा ही नाम है?"

कहार—"काहे को, कोई चिट्ठी है?"

डाक पि०—"चिट्ठी तो नहीं है, रुपया उसके नाम बनारस से आया है।"

क०—"तो दीजिए न ?"

डा० पि०—"तेरा ही नाम लच्छन है ?"

क०—"नहीं, वह हमारा ही छोटा भाई है। बनारस में उसका बाप रहता है। वह हमारा चाचा होता है, उसी ने भेजा होगा।"

डा० पि०—"उसका नाम क्या है ?"

क०—"नाम बुधई है। हमारे बाप और वह सगे भाई हैं।"

डा०—"तुम्हारे बाप का नाम क्या है ?"

क०—"हमारे बाप का तो खेमई नाम है।"

डा०—"अच्छा, तो वह लच्छन कहाँ है ?"

क०—"वह तो बीमार होकर डेरे पर पड़ा है।"

डा०—"कहाँ डेरा है ?"

क०—"डेरा तो मछुआबाज़ार में है।"

डा०—"अच्छा, अगर तुम चल सको, तो साथ चलो। नहीं तो हम रुपया लौटा देंगे तो फिर नहीं मिलेगा।"

"अच्छा जी, रुपया मत लौटाओ, हम चलते हैं।"—कहकर कहार ने झटपट बरतन धो डाला और चट अपने एक साथी को सौंपकर डाक-पियून के साथ चलता हुआ। जब दोनों मछुआबाज़ार में पहुँचे, तो एक मकान में जाकर कहार ने एक आदमी को दिखा दिया। उसको देखते ही डाक-पियून ने कहा—"क्यों लच्छन, डुमराँव से कब आया ?"

लच्छन ने कहा—"मैं तो डुमराँव गया ही नहीं। चाचा से कई बार कहा, वह नहीं जाने देते। जब से जनम हुआ तब से एक बार भी बाप-दादे की डीह नहीं देखी।"

डा० पि०—"अरे यार, हमसे क्यों छिपाते हो? अभी परसों ही डुमराँव में देखा था और कहते हो गये नहीं!"

ल०—"तुम भी अच्छे गप्पी मिले। हम सात आठ दिन से तो इसी चारपाई पर पड़े हैं, परसों तुमने हमको डुमराँव में कैसे देखा था?"

अड़ोस-पड़ोसवालों से भी जासूस को पता मिला कि लच्छन एक अठवाड़े से बीमार पड़ा है। बीमार भी ऐसा कि चारपाई से किसी तरह उठे तो उठे, लेकिन बाहर नहीं जा सकता। कमज़ोरी के मारे दस क़दम चलने के लायक भी नहीं है।

अब जासूस के अकचकाने की बारी आई। बात क्या है, कुछ जान नहीं पड़ती। यह लच्छन तो इस लायक नहीं है कि डुमराँव जा सके। तब कुछ देर तक यही मन में विचारकर जासूस ने लच्छन का कार्ड निकालकर कहा—"अच्छा लो, यह तुम्हारी चिट्ठी आई है।"

लच्छन ने हाथ में लेकर देखा और पढ़कर कहा—"अरे, यह तो पुरानी चिट्ठी है। इसी महीने में आई थी।"

डा० पि०—"क्या पहले भी तुमको यह मिल चुकी थी"

"हाँ, यह तो बहुत दिन की आई है।" अब लच्छन को अकचकाते देखकर डाक-पियून ने कहा—"तुमको मिली थी, तो तुमने किसको दे दिया था? यह तो हमको डाक में मिली है।"

ल०—"डाक में मिली है, तो क्या रुपचन मामा ने कहीं डाक के बम्बे में तो नहीं छोड़ दिया?"

डा० पि०—"रुपचन मामा कौन?"

ल०—"एकठो आये थे। हम लोग तो नहीं जानते, हमारे काका भी नहीं पहचानते, लेकिन कहते थे कि मामा हैं। हमारी मा तो मर गई, इसी लिये पहचान नहीं सका।

"यह कागज भी तुमने उसी को दिया था ?" जासूस ने 'भारत-मित्र, दिखाकर पूछा।

लच्छन ने कहा—"हमने तो नहीं दिया था। हमारी कोठी में आता है। खबर का कागज है। यहीं हमारे डेरे में रखा था, लेकिन मालूम नहीं इसको आपने कहाँ से पा लिया ?"

डा० पि०—"वह मामा क्या इसी जगह ठहरे थे ?"

ल०—"हाँ, ठहरे तो यहीं थे, लेकिन कोठी में बराबर जाते थे। रात को यहीं रहते थे। दिन को न जाने कहाँ-कहाँ जाते थे। मालूम नहीं है।

डा० पि०—"वह कब से तुम्हारे यहाँ ठहरे रहे ?"

ल०—"हमारे बीमार पड़ने से सात दिन पहले ही आये थे।"

डा० पि०—"तुम्हारे बीमार पड़ने पर भी वह कोठी में बराबर जाते रहे ?"

ल०—"हाँ, कोठी में तो बराबर जाते रहे।"

डा० पि०—"यहाँ से कब गये ?"

ल०—"यहाँ से तो हमारे बीमार पड़ने के दो ही दिन बाद चले गये।"

डा० पि०—"तुमने उनको और भी पहले कभी देखा था ?"

ल०—"नहीं, और तो पहले कभी नहीं देखा था।"

डा० पि०—"तुम घर चलोगे ? अगर चलो तो मैं तुमको बेखर्चा के ले चलूँगा।"

ल०—"हमसे चला कहाँ जायगा। चारपाई से उतरते में तो दम फूलने लगता है।"

डा० पि०—"हम तुमको यहाँ से बग्घी पर ले चलेंगे। वहाँ

से बराबर गाड़ी पर डुमराँव चलना होगा। तुमको पैदल तो चलना नहीं होगा।"

ल०—"सो तो है, लेकिन चाचा नहीं जाने देंगे।"

इतने में एक आदमी उसी कमरे में आया। उसको देखते ही लच्छन ने कहा—"चाचा तो आ गये।" फिर चाचा से कहा—"काहे चाचा! घर जायँ?"

चाचा—"अरे, अभी खरचा कहाँ है।"

ल०—"खरचा यह देते हैं।"

चा०—"इनको क्या काम है?"

अब डाक-पियून ने लच्छन के चाचा को अलग ले जाकर बहुत कुछ समझाया और दस रुपये का एक नोट देकर कहा—"तुम इसको जाने दो, घर जायगा तो वहाँ बीमारी भी दूर हो जायगी। देश का हवा-पानी लगेगा तो सब रोग भाग जायगा।" जब खेमई ने लच्छन से सब हाल सुना तब उसे डाक-पियून को सौंप दिया। अब डाक-पियून उसे अपने साथ बग्घी में बिठाकर वहाँ से चलता हुआ।

(४)

दूसरे दिन डुमराँव से कोस-डेढ़-कोस की दूरी पर दह में धोबी आछोः-आछोः करके कपड़े धो रहे थे। किनारे पर दूर तक सुन्दर-सुथरे कपड़े फैले पड़े थे। एक बूढ़ा धोबी हाथ में कपड़ा सरियाकर गा रहा था—

जेहि दिन राम के जनमवाँ ए भाइजी,
बाजेला अवधवा में ढो....ओ....ल।
थर थर काँपेला गरबी रवनवाँ पा—
मुंदई जनमलन मो....ओ........र।

बिरहा खतम होते-होते दो आदमी एक्के पर सवार दह के पास पहुँच गये। किनारे से थोड़ी दूर पर एक्का खड़ा हुआ। दोनों सवार उतरकर किनारे पर टहलने और कपड़ा देखने लगे।

एक सवार कद का न बड़ा न बहुत छोटा है। बदन का हट्टा-कट्टा जवान है। सिर पर टोपी नदारद है, बदन में कमीज के ऊपर काले सर्ज का कोट है। बड़ी-बड़ी मुरेरदार मूँछों से चेहरा बीर का जान पड़ता है। चैांड़े ललाट और शांत गम्भीरता-व्यञ्जक नेत्रों से बुद्धिमानी की आभा फूटी पड़ती है। काली किनारी की साफ-सुथरी धोती बादामी बूट पर शोभा दूनी कर रही है। हाथ में चाँदी मढ़ा मल्लाका बेंत की छड़ी है। उमर इस बाबू की ४० बरस की होगी। दूसरा कद में उससे लम्बा, बदन का दुबला है, उमर कोई ५० बरस की होगी। दाढ़ी और मूँछ के एक बाल भी काले नहीं हैं। सिर ऊँचे और घेरदार मुरेठे से ढका है। भाव से बाबू का पुराना नौकर मालूम देता है। बात-बात में 'हुजूर!' कहकर उस बाबू की ताजीम करता है।

धोबी-धोबन अकचकाने लगे कि यह दो आदमी कौन एक्के पर आये हैं, न दह के पार जाते हैं, न पीछे लौटते हैं। इसी की भावना में सब सिर झुकाये अपना कपड़ा पाट पर पीटने लगे। बिरहा गानेवाले ने अपने बगलवाले से कहा—"मालूम होता है डुमरी के साहु के कोई हैं, वहीं जाते हैं।"

उसने कहा—"डुमरी जाते हैं तो अबेर काहे करते हैं?"

तीसरे ने कहा—"नहीं, कहीं जाना नहीं है। कोई बड़े आदमी हैं, टहलने आये होंगे। मालूम होता है, भोजपुर में किसी के घर पाहुने आये हैं।"

इतने में एक्केवान उनके पास आ गया। उससे धोबियों ने

पूछा—"डुमरी जावोगे का भैया ?" एक्केवान ने कहा—"नहीं हो, हियें तक घूमे आये हैं। हवा खा के टेसन को लौट जाहें।"

बस सबके मन की उकताहट मिट गई। उधर दोनों आदमी चेहल कदमी करते और किनारे के एक-एक कपड़े देखते जाते थे। एक जगह एक धोती फैली पड़ी थी, उसे दिखाकर टहलनेवाले ने कहा—"क्यों लच्छन ! वह काले दागवाली धोती तुम पहचान सकते हो, किसकी है ?"

लच्छन ने कहा—"हाँ, यह तो हमारे मामा की ही है। यह पहनकर वह कलकत्ते गये थे, लेकिन इसमें जो काला दाग है सो नहीं था।"

चतुर पाठक पहचानते होंगे, यह वही जासूस है जो डाक-पियून बनकर मछुआबाजार में लच्छन के घर गये थे और उसे साथ लेकर डेरे पर आये। वहाँ से एक भले आदमी का रूप बनाया और साथ में लच्छन को बूढ़े के रूप में लेकर उसी दिन हवड़ा आये। गाड़ी में सवार होकर दूसरे दिन सबेरे डुमराँव पहुँचे और एक्के पर सवार होकर वहाँ से दह देखने को आये हैं। उसके पीछे जो हो रहा है सो पाठक जानते हैं।

लच्छन की बात सुनकर जासूस ने कहा—"तुमने अपने मामा का बायाँ हाथ अच्छी तरह देखा था ?"

ल०—"अच्छी तरह देखा तो था। कानी (कनिष्ठिका) उँगली सदा बाँधे रहते थे। जब तक रहे, तब तक उनकी उँगली में दरद रहा।"

जासूस ने मन में कहा—ठीक है। वही बदमाश यहाँ तक आया है। फिर पूछा—"यह तुम कैसे जानते हो कि यह धोती वही है ?"

ल०—“यही है साहब। इसकी किनारी में बँगला लिखा है। एक ओर का आँचर फटा हुआ है। देखिए, इसमें भी आँचर एक ही ओर है; लेकिन यह काला दाग नहीं था। हम बराबर उनकी धोती फींचते रहे, लेकिन काला दाग कभी नहीं देखा।”

“अच्छा, ठीक है”,—कहकर जासूस वहाँ से धोबी के पास आया। उसी बिरहा गानेवाले बूढ़े से पूछा—“क्यों जी, वह कपड़े किसके हैं?”

धोबी—“आप भी अच्छा पूछते हैं! वह कपड़े क्या एक आदमी के हैं?”

जा०—“अरे वह उधरवाली किनारीदार धोती, जिस पर काला दाग लगा है और एक ओर का आँचर नहीं है।”

धोबी—“वह एक मुसाफिर की है। पहचानते हैं, लेकिन नाम नहीं जानते।”

जा०—“अच्छा नाम नहीं जानते तो घर पहचानते हो?”

धोबी—“घर भी नहीं पहचानते। आज ही कपड़ा देने का वादा है। यहीं वह कपड़ा दे गया था और यहीं से ले भी जायगा।”

जा०—“कब ले जायगा?”

धोबी—“अब आता ही होगा। दोपहर के बाद आने को बोला था।”

जा०—“अच्छा भाई, जाने दो। उससे कुछ मत कहना। यह धोती बहुत बढ़िया है। इसी से हम मालिक का नाम जानना चाहते थे। उससे पूछते कि ऐसी बढ़िया धोती कितने दाम पर कहाँ से खरीदी गई है। मालूम होता तो हम भी लेते। इसकी किनारी पर बड़े रसीले दोहे लिखे हुए हैं।”

धोबी—"क्या लिखा है बाबू, हमको भी बतला दीजिए तो वह रसीला दोहरा याद कर लें। हमको भी इन बातों से शौक है। कवित्त, चौपइयाँ हम बहुत याद करते हैं।"

"अच्छा तुमको चाह है तो लो, बतलाये देते हैं उस पर जो दोहे लिखे हैं।" जासूस ने मैथिल कवि विद्यापति के पद सुना दिये।

धोबी—"वाह बाबू जी, वाह! यह तो खूब रसीला दोहा है।" इतने में सामने से एक अकड़बेग आता हुआ दिखाई दिया। धोबी ने कहा—"देखो बाबू, वही आदमी धोतीवाला आता है।"

बस, इतना सुनते ही दोनों टहलनेवाले वहाँ से दूर हट गये—मानों मुसाफिर हैं, धोबी से कुछ बातचीत नहीं है। उधर वह आदमी भी पास आ गया। उसका पहनाव-पोशाक भले आदमी का है। मलमल की खूब बढ़िया कमीज है। बूताम चाँदी के लगे हैं। कड़कड़ाते हुए चिकने कफ़ और प्लेट देखने से विलायती माल मालूम देता है। कमर से नीचे आसमानी रङ्ग की लहर मारती हुई फरस-डाँगा की काली किनारीवाली धोती है। पाँव में काला वार्निश का चमचमाता लैसदार जूता है। हाथ में सींग की काली छड़ी है। सिर पर रेशमी मुरेठा है। आबताब से एक बड़े घर का जवान मालूम देता है। पास आ जाने पर जासूस ने देखा तो उसकी दसों उँगलियाँ सहीसलामत हैं। लच्छन ने भी जासूस के कान में कहा—"यह तो हमारे मामा नहीं हैं।"

जासूस ने "चुप रहो" कहकर उसका मुँह बन्द किया और टहलते-टहलते धोबी के पास आये। अकड़बेग ने भी धोबी से आते ही कहा—"क्यों बे धोबी! धोती तैयार है?"

धो०—"हाँ, सरकार सूखती है।"

अक०—"अरे सूरज डूबता है तौ भी सूखती ही है?"

धो०—"का करें बाबू, तैयार तो बड़ी देर से है। आजकल का घाम ही तेज नहीं, नहीं तो अब तक कभी की सूख गई होती।"

अक०—"हम तो स्टेशन पर से आते हैं। गाड़ी आने का वक्त हो गया। फिर कैसे बनेगा?"

धो०—"तो बाबू जी! आप ले न जाइए, सूख भी तो गया। गाड़ी के वास्ते तो आप ही देर करके आये हैं। आते ही हम अगर आपको हाथ में दे देते तौ भी आप गाड़ी नहीं पा सकते थे!"

धोबी इतना कहता हुआ पानी में से निकला और उसकी धोती सरियाकर दे दी। उसने देखकर कहा—"अजी तुमने यह दाग छुड़ाया ही नहीं।"

धोबी—"वह तो बाबू जी अलकतरा का दाग है। हम धोते-धोते थक गये, लेकिन नहीं छूटा।"

अक०—"तो फिर तुम्हें इनाम कैसे दें?"

धो०—"कोई धोबी इस दाग को छुड़ा दे बाबू जी, तो हम टाँग की राह से निकल जायँ। हम लोग राजदरबार का कपड़ा धोने-वाले हैं, दूसरे का तो काम ही नहीं करते।"

अक०—"तो लो, दो पैसे अपनी धुलाई ले लो। अगर दाग छुड़ा देते तो हम इनाम भी देते। तुमने दाग नहीं छुड़ाया, इसी से हमारी तबीअत खुश नहीं हुई।"

इतने में जासूस ने घड़ी निकालकर देखी और कहा—"देखो जी लच्छन! चलो जल्दी, अब गाड़ी आया चाहती है।"

लच्छन एक्केवाले को पुकारने गया। इधर जासूस से अकड़बेग ने कहा—"क्यों जनाब, आप लोग भी गाड़ी ही पर जावेंगे क्या?"

जा०—"हाँ साहब, गाड़ी ही पर जाना है।"

अक०—"मैं भी तो साहब, गाड़ी ही पर जानेवाला था।

हमारा एक साथी स्टेशन पर बैठा है। हम दोनों आदमी तैयार होकर स्टेशन पर आये, तब धोती की याद आई। वहाँ से एक्के पर आता था। भोजपुर के नाले में आकर घोड़े ने ठोकर ली। एक्का भी गिरा, पहिया टूट गया। एक्केवाले को भी बड़ी चोट आई। भगवान की दया से मुझे चोट नहीं आई। जब देखा कि एक्का अब काम का नहीं रहा, तब उस नाले पर से पैदल आया हूँ। आप अपने एक्के पर मुझे बिठा लें तो बड़ी दया करें। मैं पैदल चलकर गाड़ी नहीं पा सकूँगा।' जासूस तो चाहता ही था। पहली बार मंजूर करके कहा—'कुछ परवाह नहीं। आप आइए।' शरीफ़ की इज्जत शरीफ़ ही समझता है। फिर हमको भी तो उसी गाड़ी पर जाना है।" इतना कहकर उसको भी उसी एक्के पर चढ़ा लिया। अब तीनों आदमी को बिठाकर एक्केवान ने घोड़ा हाँका। सड़क कच्ची लेकिन ठीक थी। बीच में दो-तीन नाले पड़े; उनको पार करके कोई आधे घंटे में एक्का सब सवारों को लादे डुमराँव के स्टेशन आ दाखिल हुआ।

एक्का ज्यों हीं स्टेशन के सामने खड़ा हुआ, अकड़बेग उतर पड़ा। जासूस भी लच्छन के साथ उतरा। तीनों मुसाफिरखाने में गये। अकड़बेग ने अपने साथी से कहा—"यार, बड़ी आफत में पड़ गये। एक्का बीच रास्ते ही में जाकर टूट गया। मैं तो वहाँ पैदल गया था। लेकिन लौटती बेर यह बाबू मिल गये, इन्होंने हमको अपने एक्के पर यहाँ पहुँचाया है। नहीं तो गाड़ी नहीं मिलती।" लच्छन ने खूब धोपदार दाढ़ी-मूँछ पहना था। इसी से अकड़बेग के साथी ने उसको नहीं पहचाना। लेकिन लच्छन ने झट पहचानकर सिर हिलाया और जासूस से आँखों का टेलीग्राम करके कह दिया कि यही हमारे मामा साहब हैं।

अँधेरा हो चला था। सूर्यदेव पच्छिम में छिप चुके थे, सन्ध्या

की तिमिर-वरणी छाया गहरी होती जाती थी। इतने में दूसरी घंटी बजी। गाड़ी दीख पड़ी। हरहराती हुई पेसिंजर डुमराँव के स्टेशन में आ खड़ी हुई। लच्छन के मामा पहले से टिकट ले चुके थे, यह झट इन्टरक्लास में दोनों जा बैठे। जासूस ने भी भीतर जाकर इन्टर-क्लास के दो टिकट लिये और उसी गाड़ी में उन दोनों के पासवाले कमरे में जा बैठे। टन टन टन, टन टन टन, टन टन टन, घंटा बजा। गाड़ी सीटी देकर चलती हुई।

(५)

गाड़ी दिलदारनगर में पहुँचकर कोई बीस मिनट खड़ी रही। इतने में एक लीला हुई। देखा तो मुसाफिरों की भीड़ में बाबू सबसे टिकट ले रहे हैं। रेलवे पुलिस का एक कानिस्टबल "अरे कोई बैरन है, भाई बैरन?" कहकर पुकारता है। बाबू—"यह बैरिंग है यह," कहकर गाँठ लादे और गोद में लड़का लिये हुए मुसाफिरों को उनके हवाले करते जाते हैं। जब सब मुसाफिर चले गये, चार रह गए; तीन हवड़े से आते हैं, एक के साथ एक छोटा सा लड़का था। एक के पास बत्तीस सेर, दूसरे के पास अड़तीस सेर, तीसरे के पास साढ़े तैंतीस सेर माल है। सबसे तीन-तीन रुपये लेकर स्टेशनवालों ने छोड़ दिया। यह लड़केवाला हुगली से आता है। सो हुगली का पूरा महसूल उससे लिया गया। वह बारहा चिल्लाया किया—"बाबू जी दस बरस का लड़का है," लेकिन बाबू ने कहा—"चुप रहो सुअर, वहाँ बाबू को रुपया देकर बिना टिकट आया है।" मुसाफिर ने कहा—"तब तो बाबू जी, आप बड़ा धरम करते हैं, एक रुपया वहाँ भी दिया, पूरा महसूल आप लेते हैं तो कितना पड़ गया।" बाबू ने कहा—"यह इस वास्ते है कि तुम फिर ऐसा नहीं करोगे।" इतने में बाबू ने

"आलराइट सर" कहा। गार्ड ने झण्डी दी। गाड़ी सीटी बजाकर चलती हुई। पूछने पर मालूम हुआ कि सकलडीहा से कोई मालगाड़ी आती थी, इसी वास्ते पेसिंजर उसके आने तक ठहरी रही। गाड़ी जब सकलडीहा स्टेशन में पहुँची, मोगलसराय जब एक ही स्टेशन रह गया, लच्छन के मामा अपने साथी को जगाकर आप बेंच पर सो गये थे—जासूस ने घात पाकर उसके जेब में हाथ डाला। उसमें दो रुपये छींट की एक रूमाल में बँधे रक्खे थे। जासूस ने उसको अपने जेब के हवाले किया। फिर हाथ दूसरी ओर के जेब में डाला। वह कुछ नीचे दबा था। हाथ डालते ही लच्छन के मामा अकचकाकर उठे और झट जासूस का हाथ पकड़ लिया। कहा—"क्यों रे पाजी! चोर कहीं का, जेब में हाथ डालता है?"

जासूस ने काँपती जीभ से कहा—"नहीं सरकार, हम चोर नहीं हैं।"

लच्छन के मामा—"ठीक है, ठीक। मैं समझ गया, तू चोर है। तभी डुमराँव के राह से पीछा किया है। मैंने ठीक पहचाना नहीं। एक्के पर चढ़ के वहाँ तक आया, तूने घात नहीं पाया, यहाँ सो जाने पर जेब टटोलता है। तू कलकत्ते का गिरहकट है।"

जा०—"नहीं सरकार............"

इतने में मामा ने अपने दूसरे जेब में हाथ डाला तो रुपया बँधा रूमाल नदारद! अब तो जकड़कर जासूस को पकड़ा। इतने में गाड़ी मोगलसराय के स्टेशन में जा खड़ी हुई। मामा जोर से 'चोर-चोर' चिल्लाने लगे। रेलवे पुलिस के कानिस्टबल आये, सब इन्स्पेक्टर पहुँचे। देखा, गाड़ी में एक जवान भले आदमी की पोशाकवाले को

दो आदमी पकड़े 'चोर-चोर' चिल्ला रहे हैं। एक चौथा बूढ़ा बगल में चुपचाप बैठा है। सबको पुलिस ने उतारा। पूछने पर बूढ़े ने कहा—"हाँ साहब, इन्होंने उसके जेब में हाथ डाला था।"

जामातलाशी लेने पर उसके जेब से रुपचन मामा का माल मिला। अब पुलिसवालों ने उस गिरहकट को उसी दम पकड़ लिया और मुद्दई को भी दोनों गवाहों के साथ रोक रखा। जब कानिस्टबल चोर को गारद में बन्द करने के लिए ले गया तब भीतर जाकर चोर ने उससे कहा—"देखो जी, हम चोर नहीं, पुलीस के आदमी हैं। चोर वही दोनों हैं। वह बूढ़ा मेरा साथी है। तुम जाकर दरोगा साहब को यहाँ भेज दो।"

कानिस्टबल ने कहा—"क्या खूब! आप चोर औरों को बनावें। दरोगा और हम तुम्हारे नौकर हैं रे बदमाश? इतना कहकर कानिस्टबल ने आँख बदली। कुछ और मुँह से बकना चाहता था कि चोर ने अपनी कमर में एक चीज दिखाई। कानिस्टबल ने उसे देखते ही पीछे हटकर सलाम किया। कमर में जासूस का निशान देखकर कानिस्टबल ने पहचान लिया और अदब से सलाम करके दरोगा साहब को बुलाया। दरोगा ने गारद में आकर कहा—"क्यों जनाब, क्या मामिला है?" उसने कहा—"मामिला ऐसा है कि दोनों डुमराँव के स्टेशन से पाँच हजार का माल चुराकर भागे जाते हैं। मैं अकेला इन दो-दो पहलवानों से पार नहीं पाता और इन्होंने रास्ते में सकलडीहा स्टेशन से ही उतरने का इरादा किया था। तब मैंने यही सोचा कि इसका कुछ चुराना चाहिए। बस, रूमाल चुरा लिया। उसमें रुपये बँधे थे। जब नहीं जागा तब दूसरे पाकेट में हाथ डालकर जगाया। जो बूढ़ा बैठा था वह मेरा कहार है।

"ओफ, तब तो आपने कमाल किया। माफ कीजिए, कहिए अब क्या करना चाहिए ?"

"अब उन दोनों को हथकड़ी भर दो। माल जो दो गठरी में लिये हुए हैं, वही माल मसरूका है। उसमें शाल, दुशाले, लोई, अलवान और रेशमी कपड़े हैं। सब पाँच हजार की गठरी महाराज के वास्ते कलकत्ते से आई थी। उसी को गोदाम से इन्होंने उड़ा लिया है।

दरोगा ने कहा—"हाँ हाँ, कई रोज हुए तार आया था। वही माल तो नहीं कि ताला बन्द का बन्द ही था और गठरी गायब हो गई है ?"

"हाँ, हाँ ! वही है। कहकर चोररूपधारी जासूस ने कहा—"उनको जल्दी गिरफ़्तार करो। चोर बड़े मजबूत थे। दस कानिस्टबल दो हथकड़ी लिये उनके पास गये और सब-इन्स्पेक्टर के आँख देते ही दोनों को हथकड़ी भर दी। गारद से चोर साहूकार बनकर बाहर आया, जो साहूकार बने थे वह चोर हुए। अपराध की ऐसी दुम्बाफेरी यहीं देखने में आई।"

अब दोनों गिरफ़्तार होकर गारद में बन्द हुए। दोनों की गठरी खोली गई तो दोनों में शाल, दुशाले और रेशमी कपड़े भरे थे। तार देकर सुगनचन्द सोहागचन्द को बुलाया गया। महाजन ने अपने गुमाश्ते के साथ आकर माल पहचाना। एक कपड़ा भी नहीं गया था। सब फिहरिस्त के मुताबिक मिल गया। अब जासूस ने गारद में अकेले जाकर पूछा—"देखो अब तो सब माल मिल गया। तुम लोग माल के साथ ही पकड़े गए। अब सच्चा हाल कह दो, कैसे चुराया था ?"

कुछ भरोसा देने पर लच्छन के मामा ने कहा—"देखो बाबू

हमने जिस तरकीब से चोरी की उससे तो तुम्हारा पकड़ना और बढ़कर है। हम लोगों को सपने में भी पकड़े जाने का डर नहीं था। अगर ऐसा समझते तो और तरकीब कर डालते। लेकिन खैर अब तो पकड़े ही गये। नहीं कहने से भी नहीं छूट सकते। सुनो हम सब हाल बयान करते हैं।

(६)

अब लच्छन के मामा ने बयान किया—

"हम लोग बनारस के रहनेवाले हैं। चोरी ही का रोजगार करने कलकत्ते पहुँचे थे। सुना था कि वहाँ पुलिसवाले बड़े चतुर होते हैं। सो यही देखने गये थे। कलकत्ते जाकर लच्छन के यहाँ पहुँचे। लच्छन का बाप बनारस में रहता है। बनारस से चलते ही उससे लच्छन का हाल, उसका मशहूर महाजन सुगनचन्द-सोहागचन्द के यहाँ नौकरी करना, मालूम हो गया था। बस वहाँ जाकर लच्छन के मामा बन गये। सुगनचन्द-सोहागचन्द की कोठी में बराबर आना-जाना रहा। सब खबर नौकरों से मिलती रही। एक रोज मालूम हुआ कि डुमराँव के राजा ने पाँच हजार का शाल, दुशाला, लोई, अलवान और रेशमी कपड़े माँगे हैं। मैं बराबर भेद लगाता रहा। दो दिन पहले से मालूम हो गया कि माल परसों जायगा और माल वहाँ से आदमी बाली स्टेशन ले जायगा, वहाँ से पार्सल में रवाना होगा। हम दो साथी थे। एक धर्मशाला में ठहरा था। उसी ने खूब लम्बी-चौड़ी सन्दूक तैयार कराई, उसमें ऊपर से बंद करने का निशान था, लेकिन भीतर से बन्द होता था। मैं उसी में बैठ गया और दो-चार ईंट, एक पत्थर का टुकड़ा उसमें रखकर नीचे पयार बिछाकर लेटा। ऊपर से भी साथी ने पयार भर दिया कि मुझे चोट न लगे। मेरे साथी ने बाबू को एक रुपया

देकर उसी कपड़े के पार्सल के साथ अपना लगेज चढ़वा दिया। आप लगेज-रसीद लेकर उसी गाड़ी में सवार हुआ। रात को गाड़ी डुमराँव पहुँची। लगेज रात को नहीं लिया। गोदाम में सन्दूक और पार्सल (कपड़े की गाँठ) दोनों रखे गये; वहाँ अँधेरा था। बाहर से ताला बन्द था। भीतर से मैं सन्दूक खोलकर बाहर निकला और कपड़े की गाँठ उसमें रखकर ईंट, पत्थर, पयार, सब निकाल दिया। फिर आप भीतर बैठकर अन्दर से चाभी बन्द कर ली। हमारा साथी सधा था ही। आकर उसने रसीद दी और पार्सल छुड़ा ले गया। बाबू लोगों ने कुछ नाह-नूह की, लेकिन उन्हें भी एक रुपया दिया। बोझा भारी कहकर बाबू ने वजन करने का बखेड़ा लगाना चाहा था, लेकिन मेरे साथी ने दो रुपया उसके वास्ते अलग नजर किया। अब कुछ भी रोकटोक नहीं हुई। कुलियों को मुँहमाँगा देकर सन्दूक छुड़ा ले गया। बाहर भोजपुर के पास नाले में जाकर गाड़ीवाले को हम लोगों ने बिदा कर दिया। जब वह अपनी आशा से दूना इनाम पाकर चला गया तब मैं बाहर हुआ और सन्दूक को वहीं तोड़-फोड़कर डाल दिया।"

"गठरी के दो हिस्से करके दोनों आदमियों ने कन्धे पर लिया और डुमराँव की सराय में जा ठहरे। गोदाम में मेरी धोती अलकतरे से चफन गई थी उसको धोबी को दे दिया। वही धोती हमारी समहुत की थी, इसीसे उसके लिए डुमराँव में ठहरे रहे। किसी ने कुछ भेद तो नहीं पाया, लेकिन मैं मन में डरता था कि यहाँ की देरी अच्छी नहीं है, सो ही हुआ। न जानें आपने कैसे पता पा लिया।"

जा०—"गोदाम में तुमने धोती का रङ्ग और हाथ को किवाड़ में पोंछा था?"

चो०—"हाँ, जब मैं गिरा तब दोनों हाथ और पीठ में

अलकतरा चफन गया था। हाथ भी किवाड़ में पोंछा था। जब छूटने का भरोसा नहीं दीखा, तब सन्दूक में जा बैठा था।"

बनारस के कोतवाल ने आकर देखा तो पहचाना और कई बार का सजा पाया हुआ पुराना चोर कहा।

जासूस माल के साथ दोनों को गिरफ्तार करके डुमराँव ले गया। डेलीवरी करनेवाले बाबू ने चोर के साथी को पहचाना, फिर उसका बयान लेकर जासूस माल के साथ दोनों को कलकत्ते ले गया। वहाँ कानून के अनुसार इन दोनों पर मुकद्दमा हुआ। अदालत से अपराध उनका साबित होने पर पुराना चोर होने के कारण दोनों दस-दस बरस को कैद हुए। जासूस को महाजन की ओर से ५०० रु० इनाम और सरकार से प्रशंसापत्र मिला। अब जासूस खुश होकर दूसरे मुकद्दमे में तैनात हुआ।

विधवा

[पं० ज्वालादत्त शर्मा]

(१)

राधाचरण की अकाल-मृत्यु से उसके चचा-चची को बहुत शोक हुआ। किन्तु अभागिनी पार्वती के लिए तो यह संसार ही अन्धकारमय हो गया। उसके लिए संसार में आशा, उत्साह और सुख का सोलहो आने नाश हो गया। उसने इस घोर दुःख को, इस अनभ्र वज्रपात को दिल का खून करके, किसी तरह सहन किया। वह

न रोई, न चिल्लाई। उसने इस असह्य दुःख को मन की पूरी ताकत से चुपचाप सहन किया। शोक के भारी बोझ से पार्वती का सुकोमल मन निस्सन्देह चूर-चूर हो गया। किन्तु विधि के इस विपरीत विधान में किसी का क्या वश था!

राधाचरण के चचा, रामप्रसाद, औसत दर्जे के आदमी थे। राधाचरण के पिता, गुरुप्रसाद, का देहान्त, जब उसकी अवस्था पाँच वर्ष की थी, तभी हो गया था। सुनीति माता भी, पति की मृत्यु के एक वर्ष बाद ही, स्वर्ग-लोकगामिनी हो गई थी। इसलिये बालक राधाचरण का पालन-पोषण चचा रामप्रसाद और उनकी पत्नी हरदेवी ने ही किया था। उनके पास कुछ पैतृक मिलकियत थी जिसकी आमदनी से घर का खर्च चलता था। रहने को पक्का मकान था। पर इस पैतृक मिलकियत और रहने के मकान में—जायदाद के क्षय-रोग—क़र्ज़े के कीटाणुओं ने प्रवेश कर लिया था। रामप्रसाद ने अपनी कन्या चमेली के विवाह में शहर के मूर्ख और निठल्ले आदमियों के मुँह से चिकनी-चुपड़ी बातें सुनने के लिए बहुत रुपया बरबाद किया था। विवाह के बाद, कोई एक सप्ताह तक, पकवान की सुगन्धि के साथ-साथ रामप्रसाद की इस मूर्खतापूर्ण उदारता की बू भी महल्ले में सर्वत्र और शहर में यत्र-तत्र फैल रही थी। खस्ता कचौरी, मोतीचूर के लड्डू, गोल बालूशाही, कुरकुरी इमरती और मसालेदार तरकारियों के साथ-साथ चमकते हुये 'इन्दु-सम-उज्ज्वल' रूपराज की दक्षिणा की बात जहाँ-तहाँ होती थी। किन्तु रामप्रसाद के यश की उस स्निग्ध चाँदनी में, उसके विमल यश की सफेद चादर में, कोई कलङ्क न हो, कोई धब्बा न हो, सो बात नहीं। दुष्ट समालोचक, जिन्होंने ज्योनार में कई दिनों पहले से अल्पाहार करते रहने के कारण, बुरी तरह ख़स्ता कचौरी और मेवा मिली मुलायम मिठाइयों

का ध्वंस किया था, अपने दुष्ट पर प्रकृतिदत्त स्वभाव से मजबूर हो कर बाल की खाल निकालने और रामप्रसाद की दूध की गंगा में विष मिलाने लगे। कोई कहता था—'कचौरियों में मोयन कम डाला गया' और कोई बताता था कि 'शाक में नोन ज्यादा हो गया था।' कोई लड्डुओं की बूँदी को ठोस, तो कोई बेसन की बरफी को सख्त क़रार देता था। मतलब यह कि रामप्रसाद की मूर्खता का श्राद्ध करनेवाले नर-पुङ्गवों की भी कमी न थी। किन्तु घरों की मालकिनें जिन्होंने अपने बच्चों से रुपये छीनकर बटुओं में भर लिये थे और इस तरह एक अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव किया था, रामप्रसाद की प्रशंसा अपनी प्रलयङ्करी बुद्धि की सहायता से शत-शत मुख से कर रही थीं। इस प्रशंसा-रूप बीमारी का दौरा भी एक महीने से अधिक न रहा। हलवाइयों के हिसाब के साफ़ होते ही लोगों के बेकार अतएव ख़ाली दिमाग भी इस ख़फ़्त से खाली हो गये। छः मास के बाद, रामप्रसाद की उसकाने पर भी किसी को लड्डुओं की बूँदियों में तरावट न मालूम होती थी—कोई विषय का उत्थान न करता था। इससे रामप्रसाद के श्लाघा सुनने की अभिलाषा पर तुषारपात हो जाया करता था, किन्तु उसी आशालता को पल्लवित करनेवाला सूदखोर छज्जूमल महाजन 'पड़ोस' का हक़, क़रीब-क़रीब रोज़ निभा देता था।

जिस साल रामप्रसाद की लड़की चमेली का विवाह हुआ था, उसी साल राधाचरण बी० ए० में तीसरे नम्बर पर पास हुआ। राधाचरण को स्कूल से ही, उसकी योग्यता के कारण, छात्र-वृत्ति मिली थी। पर बी० ए० की फ़ीस और किताबों के लिये चचा रामप्रसाद ने १५०) उसे ज़रूर दिये थे। उसी साल 'ग़रीब नवाज़' लाला छज्जूमल ने यथानियम अगले-पिछले जोड़कर रामप्रसाद से पाँच

हज़ार रुपयों की दस्तावेज़ लिखाकर उसकी 'इज्ज़त' बचाई थी। कोई तीन हज़ार रुपये उसने लड़की के विवाह में स्वाहा किये थे। किन्तु क़र्ज का प्रसङ्ग उठते ही रामप्रसाद भतीजे की पढ़ाई का उल्लेख करते थे। उनके हिसाब से यदि राधाचरण न पढ़ता तो उन्हें ऋणी न बनना पड़ता। छोटी-छोटी बातों पर रामप्रसाद राधाचरण से कहते—"अभी तूने मेरी क्या सेवा की है? एक साल से पचास रुपये महीना कमाने लगा है। मुझे देख, तेरी पढ़ाई के कारण ही तबाह हो गया। इतना देना हो गया।"

सुशील राधाचरण अपने मूर्ख चचा की बात का उत्तर न देता था। नीची गरदन करके वह सब कुछ सुन लेता था।

राधाचरण की मृत्यु से चचा और चची को बेशक बहुत दुख हुआ, पर उस दुःख की तीव्र आग में जलते हुए भी रामप्रसाद ने राधाचरण के कारण कर्ज़दारी का ज़िक्र करने की प्रवृत्ति को बड़े यत्न से सुरक्षित रक्खा।

(२)

शोक की प्रबल लहरों में बहे जानेवाले रामप्रसाद-दम्पति ने अपने धेवते का सहारा पाकर बहुत कुछ शान्ति-लाभ किया। भाद्रपद की वर्षा के बाद जिस तरह सूर्य असह्य हो उठता है, उसी तरह शोक-सागर में स्नान करके रामप्रसाद-दम्पति का कठोर हृदय और सख़्त हो गया। अब वे बात-बात में कहते थे—"राधे हमें मार गया। वह हमारा भतीजा नहीं, शत्रु था। हमें बरबाद करने आया था।"

पार्वती शोक-महानदी की जिस प्रबल लहर में बही जा रही थी, उसमें तिनके का भी सहारा नहीं था। वह थी, और अनन्त शोक की लहरी थी। उसके भाद्रपद के तरुण सूर्य्य की प्रखर धूप उत्तापहीन थी—प्रकाश-हीन थी। शरत्काल के लुभावने चन्द्रमा की चिकनी

चाँदनी उसके लिये सिंह के सूर्य्य की धूप से भी कहीं अधिक प्रखर थी। उसके मन में शोक की प्रचण्ड अग्नि धू-धू जल रही थी। बाहर रामप्रसाद-दम्पत्ति का कठोर व्यवहार उस अबला को बेदम किये देता था। शोक की अनन्त ज्वाला में, अनन्त विरह के प्रचण्ड अनल में, निराशा के घने अन्धकार में, उपेक्षा के दुर्गन्धिपूर्ण संसार में—सब कहीं—उसे परलोक-गत पति का पूत और पवित्र मुख-पद्म दिखाई देता था, मानो वह उससे मौन भाषा में कहता था—"प्रिये पार्वती, धैर्य्य धारण करो। त्रिताप-दग्ध संसार में जब तक हो, जैसे बने, कालयापन कर दो। स्वर्ग में मैं तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा हूँ। मैं तुम्हें अवश्य मिलूँगा; क्योंकि तुम मेरी हो और मैं तुम्हारा हूँ।"

पार्वती का छलनी की तरह छिदा हुआ हृदय शान्त हो जाता था। रामप्रसाद-दम्पत्ति का कठोर व्यवहार उसके लिये सुकोमल हो जाता था। संसार भी उसकी दृष्टि में उतनी घृणा का पात्र नहीं रहता था; उस पर से उसकी विरक्ति की मात्रा कम हो जाती थी। संसार के अन्तरिक्ष में ही, इसी संसार के आकाश में ही, उसके परलोकवासी पति के प्रभापूर्ण मुख का प्रतिबिम्ब मध्याकाश में न सही, हृदयाकाश में ही सही—दिखाई पड़ता था। इसलिये संसार उसके लिये उतना हेय नहीं रहता था; कुछ काम की चीज हो जाता था।

सास के कुलिश सम कठोर वाक्यों और उससे भी बढ़कर परुष-तर पार्थिव व्यवहारों को वह अनायास सह लेती थी। मृत्यु-शय्या पर पड़े पति के ज्योतिहीन नेत्रों का कातर भाव उसे कभी न भूलता था। उसके आखिरी शब्द—'प्रिये पार्वती'—आज भी उसके कानों में गूँज रहे थे। उस कातर भाव की शब्द-हीन भाषा का मर्म भी उसने ठीक-ठीक समझ लिया था। चचा-चची का कठोर

स्वभाव और पार्वती के पौसाल की शोचनीय अवस्था ही उस कातर-भाव का प्रधान उपादान थी।

पार्वती हिन्दी-मिडिल पास थी। राधाचरण ने बड़े आग्रह से उसे अँगरेजी भी पढ़ाई थी। उसका विचार था कि वह उससे प्रवेशिका-परीक्षा दिलायेगा; किन्तु उसकी अकाल-मृत्यु ने बहुत-सी अन्य बातों के साथ-साथ इस विचार को भी कार्य में परिणत न होने दिया।

पति की मृत्यु के बाद अभागिनी पार्वती को पुस्तक छूने का मौका ही न मिलता था। घर में उसकी कोई सत्ता ही न थी। सास राधाचरण की मृत्यु का कारण उसे ही समझती थी। पार्वती अन्न पीसती थी, चौका-बरतन साफ करती थी, भोजन बनाती थी; किन्तु फिर भी सास-ससुर की सहानुभूति का पात्र नहीं बन पाती थी। फिर भी उनके मुँह से कभी मीठी बात नहीं सुन पाती थी। सुनती थी, कर्जदारी का कारण, अपने दुर्भाग्य की गाथा, और कभी-कभी मूढ़ प्रेम के पर्दे में पति की निन्दा।

पार्वती के कुटिलतापूर्ण संसार में सहानुभूति का चिह्न कहीं दिखाई न देता था। उसके एक चचेरा भाई था; वह कहीं चपरासी था पर था विवाहित। इसलिये गरीबी का मारा सन्तान की बहुतायत से मालामाल था। अत्यन्त गर्मी पड़ने के बाद वर्षा होती है। बहुत तप चुकने पर धराधाम जल की अनन्त धाराओं से प्लावित हो जाता है। पार्वती ने भी निराशा के घोर अन्धकार में, सास-ससुर के कठोर व्यवहाररूप नरक में, उपेक्षा के समुद्र में, शोक के महासागर में ध्रुव तारे का दर्शन किया, उसे देखकर दिग्भ्रष्टा पार्वती ने कर्तव्य-पथ का निश्चय कर लिया। सामने खड़ी आलमारी में भरी हुई पुस्तकें उसे मानो अपनी अपनी भाषा में सान्त्वना देने लगीं। वे कहने लगीं—

"पार्वती, तू लिखी पढ़ी है, हम तेरी साथिन हैं। दुःख में, शोक में, संताप में सदा-सर्वदा हम तेरी साथिन हैं। हमें घृणा करनी नहीं आती, उपेक्षा करनी नहीं आती। हमसे भले कोई दिक हो जाय, हम किसी से दिक नहीं होतीं।" पुस्तकों की विभिन्न, पर मौन भाषा को उसने साफ-साफ समझा। उसके भग्न हृदय में शांति की अस्फुट किरण का उदय हुआ। आलमारी की चुनी हुई किताबों में उसने साक्षात् अभयदा सरस्वती के दर्शन किये। बहुत समय के बाद मानो माँ सरस्वती के इशारे से ही उसने आलमारी में से एक पुस्तक निकाली। पुस्तक थी, सुप्रसिद्ध ग्रन्थकार स्माइल्स साहब की 'आत्मा-वलम्बन'। चटाई पर बैठकर पार्वती उसे पढ़ने लगी।

पुस्तक के अभी दो-ही चार पृष्ठ पढ़े होंगे कि रामप्रसाद की स्त्री वहाँ आ पहुँची। पार्वती को पुस्तक पढ़ते देखकर शरीर में आग लग गई। उसने अपने अभ्यस्त अनेक कुवाक्यों का विष उगलकर अन्त में कहा—"पुस्तकें पढ़कर ही तू राधे को चट कर गई। तू नारी नहीं, नागिन है। भगवान्! भगवान्! मेरे घर में ऐसी डायन कहाँ से आ गई! वह था—तबाह कर गया; तू है तबाह करने की फिक्र में।"

हिरन के बच्चे पर शेरनी को गुर्राता देखकर जिस तरह उसका प्रणयी शेर भी गरजने लगता है, उसी तरह रामप्रसाद भी गरीब पार्वती पर टूट पड़ा। उसने भी स्वस्ति-बाचन के बाद कहा—"ठीक तो कहती है यह नारी नहीं नागिन है। कहीं को मुँह काला भी तो नहीं करती। मैं ऐसी नागिन को पालना नहीं चाहता। उसे खा गई। अब मुझे खायगी क्या?"

इधर रामप्रसाद बक रहा था, उधर पार्वती के हृदय में अनेक तरंगें उठ रही थीं। उन्हीं तरंगों में उसने अपने पति राधाचरण के

(४)

पार्वती के आने से सुखदयाल की गरीबी का—पर पैतृक और इसी लिए पक्का—घर स्वर्ग बन गया। उसके बालक, जो निर्धनता के कारण शिक्षा न पा सकते थे, बुआ पार्वती से पढ़ने लगे। सुखदयाल की बड़ी लड़की शान्ति उससे हिन्दी-शिक्षा के साथ-साथ सिलाई का काम भी सीखने लगी। थोड़े ही दिनों में पार्वती और शान्ति को सुई के प्रताप से कुछ कम दो रुपये रोज की आमदनी होने लगी। पार्वती के कहने पर सुखदयाल एक अच्छी गाय खरीद लाया। अब उसके घर में सब कुछ था। विद्या थी, धन था और गोरस था। सुखदयाल की स्त्री चमेली पार्वती को अपनी समृद्धि का मूल कारण समझती थी। वह उसे साक्षात् देवी समझती थी। प्रातःकाल उठकर उसके चरण छूती थी। घर का हर काम उसकी आज्ञा लेकर करती थी।

एक वर्ष बीत गया। पार्वती हिन्दू-गर्ल्स-स्कूल में हिन्दी पढ़ाती है। इसी वर्ष उसने प्रवेशिका परीक्षा पास कर ली है। ५०) मासिक वेतन मिलता है। अब सुखदयाल के बालक, जो एक वर्ष पहले लावारिस और आवारा घूमते-फिरते थे, साफ कपड़े पहनकर भले बालकों की तरह बगल में पुस्तकें दबाये स्कूल जाते हैं। लड़की शान्ति भी पार्वती के साथ स्कूल में काम करती है। देवी-स्वरूपिणी बहन पार्वती की बदौलत भाई सुखदयाल ने भी चपरासगिरी के कर्कश हाथों से छुटकारा पाकर सौदागरी की दूकान खोल ली है।

सुखदयाल का घर भी अच्छा खासा बालिका-विद्यालय था। महल्ले भर की छोटी-बड़ी अनेक लड़कियाँ स्कूल से इतर समय में पढ़ने और सुई का काम सीखने आती थीं। विद्या-दान का द्वार सदा

उन्मुक्त रहता था। पार्वती के परोपकार आदि सद्गुणों की प्रशंसा महल्ले से बढ़कर शहर भर में फैल गई थी।

*　　　　*　　　　*

चार वर्ष और बीत गये। पार्वती ने प्राइवेट तौर पर पहली कक्षा में बी० ए० पास किया। रायपुर के कलेक्टर की पत्नी ने अपने हाथ से पार्वती की सफेद साड़ी पर प्रतिष्ठा-सूचक मेडल पहनाया। हिन्दू-गर्ल्स-स्कूल की प्रधान शिक्षयित्री (लेडी-प्रिन्सिपल) के पद पर (जिसकी शोभा, उपयुक्त हिन्दू-पण्डिता के न मिलने के कारण, अब तक क्रिश्चियन लेडियाँ बढ़ाती रहीं) पण्डिता पार्वती को आसीन किया गया। शहर भर में पार्वती का यशोगान होने लगा। वेतन भी एकदम २५०) हो गया।

(५)

रविवार का दिन था। स्कूल के बड़े कमरे में प्रबन्ध-कारिणी समिति के सभ्यों की अन्तरङ्ग सभा हो रही थी। मेम्बर सभी स्त्रियाँ थीं। राय रामकिशोर बहादुर की पत्नी, जो स्कूल की आनरेरी सेक्रेटरी थीं, प्रबन्ध-सम्बन्धी अनेक विषय पेश कर रही थीं। रायबहादुर की पत्नी ने कहा—"अब मैं आज की बैठक का आखिरी विषय अर्थात् स्कूल के चपरासी के काम के लिए आई हुई दरख्वास्तें पेश करती हूँ। मेरी सम्मति में जिन लोगों की दरख्वास्तें हैं, उन्हें बिना देखे नौकर रखना ठीक न होगा। चपरासी बूढ़ा तो होगा ही, पर साथ ही साथ चिड़चिड़ा या ज्यादा कमजोर भी न होना चाहिए, और यह ऐसी बात है, जो बिना देखे ठीक नहीं हो सकती। अब मैं इस विषय में आपकी या बाई जी की (मतलब था, प्रिन्सिपल पार्वती से) जैसी आज्ञा हो, वैसा करूँ?"

उपस्थित अन्य तीन महिलाओं ने एक स्वर से कहा—"इस

विषय में बाई जी के आज्ञानुसार ही काम होना चाहिए क्योंकि बाई जी की आज्ञायें सहन करने और दरवानी के लिए ही चपरासी की नियुक्ति होगी।"

पार्वती ने अपने शान्त, पर प्रभा-पूर्ण, मुख-कमल को खिलाते हुए कहा—"मैं रायबहादुर की पत्नी से सहमत हूँ। आदमी को देखकर ही रखना अच्छा होगा। मनुष्य के चेहरे से उसके गुण-दोषों का बहुत पता लग जाता है। उस दिन 'नेशनल थाट' में मिस्टर अरण्डल का, आपने (सेक्रेटरी महोदया), इसी विषय पर एक लेख पढ़ा था?"

रायबहादुर की पत्नी ने कहा—"पढ़ा तो था, पर समझा था कम। आजकल आप पूरा समय और शक्ति 'विधवा-आश्रम' की स्थापना में लगा रही हैं। इस तरह आप देश की बड़ी भारी सेवा कर रही हैं। आपका कुछ भी समय खाली होता तो मैं आपसे अँगरेजी-साहित्य का थोड़ा-बहुत अध्ययन करके अपनी इस कमी को जरूर पूरा करती। पर मेरे मूर्ख रह जाने से देश की विधवाओं की दुःख-भरी शोचनीय अवस्था को सुधार देनेवाले 'विधवा-आश्रम' की स्थापना कहीं बढ़कर आवश्यक और एकान्त कर्तव्य है।"

पार्वती ने मुस्कराते हुए कहा—"धन्यवाद! आपकी सहायता और ईश्वर की कृपा से ही यह काम पूरा हो सकेगा। आप सुनकर प्रसन्न होंगी कि हमारे प्रजा-प्रिय छोटेलाल महोदय ने हिमालय-पार्श्व के उस बड़े भू-खण्ड को विधवा-आश्रम के लिए देने की कृपा की है। चन्दा भी कुछ कम एक लाख हो गया है। ईश्वर की कृपा हुई तो अब यह कार्य शीघ्र ही पूर्ण हो जायगा।"

रायबहादुर की पत्नी ने बड़े हर्ष के साथ कहा—"अब काम के पूरा होने में कुछ सन्देह नहीं। जिस दिन आपने आश्रम के लिए

अपना जीवन देने का महा-प्रण किया था, हमें क्या, देश के सभी हितैषियों को, उसी दिन काम के पूरा होने का पक्का भरोसा हो गया था।"

पार्वती ने बड़ी सरलता से कहा—"बहन, धन्यवाद! हाँ, तुम्हारी अँगरेजी-साहित्य पढ़ने की बात रही जाती है। उसके विषय में मेरा निवेदन है कि आप रायबहादुर साहब से पढ़ें। स्त्रियों के लिए पति से बढ़कर शिक्षक और कोई नहीं। लड़कियों को माता-पिता या अन्य कोई शिक्षक पढ़ा सकता है। पर स्त्रियों का, या साहित्य की भाषा में प्रौढ़ाओं का, परम गुरु और शिक्षक पति ही है। आशा है, आप मुझे इस वक्तव्य के लिए क्षमा करेंगी।"

रायबहादुर की पत्नी ने सौजन्य दिखाते हुए लेडी-प्रिन्सिपल को धन्यवाद दिया और साथ ही सभा का कार्य भी समाप्त कर दिया।

(६)

कङ्गाल भारत की विभूति का कल्पित स्वप्न देखकर आज भी अनेक विदेशी चौंक उठते हैं। किन्तु जिन लोगों ने भारत के गाँव देखे हैं, एक वस्त्रधारी कृशकाय अस्थि-चर्मावशिष्ट भारत-गौरव किसानों को देखा है, वे भारत की विभूति को खूब समझते हैं।

गर्ल्स-स्कूल में आठ रुपये की चपरासगिरी के लिए इतने आदमी आवेंगे, इसका किसी को खयाल भी न था। अनेक बूढ़े आदमी पाँत बाँधे बैठे थे। रायबहादुर की पत्नी और सेकेण्ड मिस्ट्रेस सुशीला देवी ने उस भीड़ में से चार आदमियों को चुन लिया। इन्हीं में से एक को बड़ी बाई जी चुनेंगी। हिन्दू-गर्ल्स-स्कूल में परदे और सदाचार का विशेष ध्यान रखा जाता है। इसी लिए किसी नौकर की नियुक्ति के विषय में बहुत सावधानता से काम लेना पड़ता है। स्कूल भर में चप-

रासी का काम ही बूढ़े मर्द के सुपुर्द था; बाकी सब कामों पर स्त्रियाँ ही नियुक्त थीं।

दस बजते-बजते लेडी-प्रिन्सिपल की गाड़ी स्कूल के बरामदे में पहुँच गई। विभिन्न कक्षाओं की विभिन्न पंक्तियों में खड़ी बालिकाओं ने बड़ी श्रद्धा से प्रधानाध्यापिका को प्रणाम किया। गाड़ी से उतर कर वे सीधे आफिस में पहुँचीं। रायबहादुर की पत्नी वहाँ पहले ही से उपस्थित थीं। प्रिन्सिपल के पहुँचने पर दासी ने बारी-बारी से उन चारों आदमियों को बुलाया।

पहले आदमी को देखते ही पार्वती के विस्मय का ठिकाना न रहा। वह बूढ़ा आदमी और कोई न था—अभागा रामप्रसाद था। उसे देखकर पण्डिता पार्वती के भावुक हृदय में क्षण भर के लिए लज्जा का उदय हुआ, किन्तु उसने तत्काल ही अपने को सँभाल लिया।

सौ मील की दूरी पर आठ रुपये की नौकरी के लिए वह क्यों आया है? मालूम होता है, उसकी मिलकियत और मकान चाटुकार पड़ोसी सूदखोर की विशाल तोंद में जरूर समा गया। रामप्रसाद के मलिन और चिन्तित मुख को देखकर करुणा-हृदया पार्वती के मन का अन्तस्थल तक हिल गया। उसने दूसरी तरफ को मुँह करके अनमने भाव से सन्देह निवारण के लिए पूछा—"आपका नाम?"

"रामप्रसाद पाण्डे।"

"मकान?"

"बिलासपुर।"

"इतनी दूर नौकरी के लिए क्यों आये?"

"माँ, पेट की खातिर।"

"घर पर खेती-बारी न थी?"

"माँ, सब कुछ था; खेती क्या, जमींदारी भी थी।"

"वह क्या हुई?"

"कर्ज में बिक गई।

"कर्ज क्यों लिया था?

"माँ, दुःख की बातें हैं; उन्हें भूल जाना अच्छा है।

"फिर भी सुनाइये तो?"

"भतीजे की पढ़ाई के लिए।"

"और क्या?"

"और कुछ नहीं।"

"लड़की की शादी में फिज़ूलखर्ची नहीं की थी?"

बूढ़े का चेहरा उतर गया। उसने पार्वती का चेहरा कभी न देखा था, और अब तो विद्या, मान और अधिकार की दीप्ति ने उसे बिलकुल बदल दिया था। बूढ़ा मन ही मन बाई जी को देवी समझने लगा। रायबहादुर की पत्नी भी इस प्रश्नोत्तरी को एकाग्र मन से सुन रही थीं।

"माँ, तुम देवी हो। सचमुच लड़की की शादी में ही बरबाद हुआ हूँ।

"तो भतीजे के पढ़ाई में कुछ न कुछ रुपया कर्ज लेना पड़ा होगा?

"माँ, सिर्फ डेढ़ सौ रुपये!"—कहते-कहते बूढ़े के नेत्रों में आँसू भर आये।

"अच्छा, आप बाहर बैठिए।"

बाकी तीन आदमियों में से एक आदमी चुन लिया गया। बूढ़ा रामप्रसाद उसी समय लेडी-प्रिन्सिपल के बँगले पर पहुँचाया गया।

आठ रुपये की नौकरी के लिए आये हुए रामप्रसाद को बँगले

के नौकरों ने जब मालिक की तरह ठहराया, तब उसे बहुत आश्चर्य हुआ।

शाम को भोजनोपरान्त पार्वती ने कहा—"आप मुझे पहचानते हैं?"

"माँ, आप स्कूल की बड़ी बाई हैं।"

"मैं आपके भतीजे की अभागिनी स्त्री हूँ।"

बूढ़े की निद्रा टूट गई। उसे मूर्छा आने लगी, पार्वती की भतीजी शान्ति ने सँभाल लिया।

पार्वती ने बहुत चाहा कि रामप्रसाद यहीं रहे। पर वह राजी न हुआ। आत्म-ग्लानि की तीव्र अग्नि से वह अन्दर ही अन्दर जल रहा था। चलते समय पार्वती ने कभी-कभी दर्शन देने का वचन ले लिया। फिर एक-एक हजार के दो नोटों को लिफाफे में बन्द करके ससुर के हाथ में दिया और बड़ी नम्रता से कहा—"यह चिट्ठी माँ जी को दे दीजिएगा, और अब की बार उन्हें जरूर साथ लाइएगा!"

ताई

[श्री विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक]

(१)

"ताऊजी, हमें लेलगाली (रेलगाड़ी) ला दोगे?" कहता हुआ एक पंचवर्षीय बालक बाबू रामजीदास की ओर दौड़ा।

बाबू साहब ने दोनों बाहें फैलाकर कहा—"हाँ बेटा, ला देंगे।"

उनके इतना कहते-कहते बालक उनके निकट आ गया। उन्होंने बालक को गोद में उठा लिया, और उसका मुख चूमकर बोले—"क्या करेगा रेलगाड़ी ?"

बालक बोला—"उसमें बैठ के बली दूल जायँगे। हम भी जायँगे, चुन्नी को भी ले जायँगे। बाबू जी को नहीं ले जायँगे। हमें लेलगाली नहीं ला देते। ताऊजी, तुम ला दोगे, तो तुम्हें ले जायँगे।"

बाबू—"और किसे ले जायगा ?"

बालक दम भर सोचकर बोला—"बछ, औल किछी को नहीं ले जायँगे।"

पास ही बाबू रामजीदास की अर्द्धांगिनी बैठी थीं। बाबू साहब ने उनकी ओर इशारा करके कहा—"और अपनी ताई को नहीं ले जायगा ?"

बालक कुछ देर तक अपनी ताई की ओर देखता रहा। ताई जी उस समय कुछ चिढ़ी हुई-सी बैठी थीं। बालक को उनके मुख का वह भाव अच्छा न लगा। अतएव वह बोला—"ताई को नहीं ले जायँगे।"

ताई जी सुपारी काटती हुई बोलीं—"अपने ताऊ जी ही को ले जा ! मेरे ऊपर दया रख !"

ताई ने यह बात बड़ी रुखाई के साथ कही। बालक ताई के शुष्क व्यवहार को तुरन्त ताड़ गया। बाबू साहब ने फिर पूछा—"ताई को क्यों नहीं ले जायगा ?"

बालक—"ताई हमें प्याल (प्यार) नहीं कलतीं।"

बाबू—"जो प्यार करें तो ले जायगा ?"

बालक को इसमें कुछ सन्देह था। ताई का भाव देखकर उसे यह आशा नहीं थी कि वह प्यार करेंगी। इससे बालक मौन रहा।

बाबू साहब ने फिर पूछा—"क्यों रे, बोलता नहीं? ताई प्यार करें तो रेल पर बिठाकर ले जायगा?"

बालक ने ताऊ जी को प्रसन्न करने के लिए केवल सिर हिलाकर स्वीकार कर लिया; परन्तु मुख से कुछ नहीं कहा।

बाबू साहब उसे अपनी अर्द्धांगिनी जी के पास ले जाकर उनसे बोले—"लो, इसे प्यार कर लो तो यह तुम्हें भी ले जायगा।" परन्तु बच्चे की ताई श्रीमती रामेश्वरी को पति की यह चुहलबाजी अच्छी न लगी। वे तुनककर बोलीं—"तुम्हीं रेल पर जाओ, मुझे नहीं जाना है।"

बाबू साहब ने रामेश्वरी की बात पर ध्यान नहीं दिया। बच्चे को उनकी गोद में बिठाने की चेष्टा करते हुए बोले—"प्यार नहीं करोगी तो फिर रेल में नहीं बिठावेगा। क्यों रे मनोहर?"

मनोहर ने ताऊ की बात का उत्तर नहीं दिया। उधर ताई ने मनोहर को अपनी गोद से ढकेल दिया। मनोहर नीचे गिर पड़ा। शरीर में तो चोट नहीं लगी; पर हृदय में चोट लगी। बालक रो पड़ा।

बाबू साहब ने बालक को गोद में उठा लिया, चुमकार-पुचकार चुप किया और तत्पश्चात् उसे कुछ पैसे तथा रेलगाड़ी ला देने का वचन देकर छोड़ दिया। बालक मनोहर भय-पूर्ण दृष्टि से अपनी ताई की ओर ताकता हुआ उस स्थान से चला गया।

मनोहर के चले जाने पर बाबू रामजीदास रामेश्वरी से बोले—"तुम्हारा यह कैसा व्यवहार है? बच्चे को ढकेल दिया। जो उसके चोट लग जाती तो?"

रामेश्वरी मुँह मटकाकर बोलीं—"लग जाती तो अच्छा होता। क्यों मेरी खोपड़ी पर लादे देते थे? आप ही तो उसे मेरे ऊपर डालते थे और आप ही अब ऐसी बातें करते हैं।"

बाबू साहब कुढ़कर बोले—"इसी को खोपड़ी पर लादना कहते हैं ?"

रामेश्वरी—"और नहीं किसे कहते हैं ? तुम्हें तो अपने आगे और किसी का दुख-सुख सूझता ही नहीं। न जाने कब किसका जी कैसा होता है। तुम्हें इन बातों की कोई परवा ही नहीं, अपनी चुहल से काम है।"

बाबू—"बच्चों की प्यारी-प्यारी बातें सुनकर तो चाहे जैसा जी हो प्रसन्न हो जाता है। मगर तुम्हारा हृदय न जाने किस धातु का बना हुआ है!"

रामेश्वरी—"तुम्हारा हो जाता होगा। और, होने को होता भी है; मगर वैसा बच्चा भी तो हो! पराये धन से भी कहीं घर भरता है ?"

बाबू साहब कुछ देर तक चुप रहकर बोले—"यदि अपना सगा भतीजा भी पराया धन कहा जा सकता है, तो फिर मैं नहीं समझता कि अपना धन किसे कहेंगे।"

रामेश्वरी कुछ उत्तेजित होकर बोलीं—"बातें बनाना बहुत आता है। तुम्हारा भतीजा है, तुम चाहे जो समझो; पर मुझे ये बातें अच्छी नहीं लगतीं। हमारे भाग्य ही फूटे हैं! नहीं तो ये दिन काहे को देखने पड़ते! तुम्हारा चलन तो दुनिया से निराला है। आदमी संतान के लिए न जाने क्या क्या करते हैं—पूजा-पाठ कराते हैं, व्रत रखते है, पर तुम्हें इन बातों से क्या काम ? रात-दिन भाई-भतीजों में मगन रहते हो।"

बाबू साहब के मुख पर घृणा का भाव झलक आया। उन्होंने कहा—"पूजा-पाठ, व्रत, सब ढकोसला है। जो वस्तु भाग्य में नहीं,

वह पूजा-पाठ से कभी प्राप्त नहीं हो सकती। मेरा तो यह अटल विश्वास है।"

श्रीमती जी कुछ-कुछ रुआसे स्वर में बोलीं—"इसी विश्वास ने तो सब चौपट कर रक्खा है! ऐसे ही विश्वास पर सब बैठ जायँ, तो काम कैसे चले। सब विश्वास पर ही बैठे रहें, आदमी काहे किसी बात के लिए चेष्टा करे।"

बाबू साहब ने सोचा कि मूर्ख स्त्री के मुँह लगना ठीक नहीं। अतएव वह स्त्री की बात का कुछ उत्तर न देकर वहाँ से टल गये।

(२)

बाबू रामजीदास धनी आदमी हैं। कपड़े की आढ़त का काम करते हैं। लेन-देन भी है। इनके एक छोटा भाई है। उसका नाम है कृष्णदास। दोनों भाइयों का परिवार एक ही में है। बाबू रामजीदास की आयु ३५ वर्ष के लगभग है, और छोटे भाई कृष्णदास की २१ के लगभग। रामजीदास निस्संतान हैं। कृष्णदास के दो संतानें हैं। एक पुत्र—वही पुत्र, जिससे पाठक परिचित हो चुके हैं—और एक कन्या है। कन्या की आयु दो वर्ष के लगभग है।

रामजीदास अपने छोटे भाई और उनकी सन्तान पर बड़ा स्नेह रखते हैं—ऐसा स्नेह कि उसके प्रभाव से उन्हें अपनी सन्तान-हीनता कभी खटकती नहीं। छोटे भाई की सन्तान को वे अपनी ही सन्तान समझते हैं। दोनों बच्चे भी रामजीदास से इतने हिले हैं कि उन्हें अपने पिता से भी अधिक समझते हैं।

परन्तु रामजीदास की पत्नी रामेश्वरी को अपनी सन्तानहीनता का बड़ा दुःख है। वे दिन-रात सन्तान ही के सोच में घुला करती हैं। छोटे भाई की सन्तान पर पति का प्रेम उनकी आँखों में काँटे की तरह खटकता है।

रात को भोजन आदि से निवृत्त होकर रामजीदास शय्या पर लेटे हुए शीतल और मन्द वायु का आनन्द ले रहे थे। पास ही दूसरी शय्या पर रामेश्वरी, हथेली पर सिर रक्खे, किसी चिंता में डूबी हुई थीं। दोनों बच्चे अभी बाबू साहब के पास से उठकर अपनी माँ के पास गये थे।

बाबू साहब ने अपनी स्त्री की ओर करवट लेकर कहा—"आज तुमने मनोहर को इस बुरी तरह से ढकेला था कि मुझे अब तक उसका दुःख है। कभी-कभी तो तुम्हारा व्यवहार बिलकुल ही अमानुषिक हो उठता है।

रामेश्वरी बोलीं—"तुम्हीं ने मुझे ऐसा बना रक्खा है। उस दिन उस पंडित ने कहा था कि हम दोनों के जन्म-पत्र में सन्तान का जोग है और उपाय करने से सन्तान हो भी सकती है। उसने उपाय भी बताये थे; पर तुमने उनमें से एक भी उपाय करके न देखा। बस, तुम तो इन्हीं दोनों में मगन हो। तुम्हारी इस बात से रात-दिन मेरा कलेजा सुलगता रहता है। आदमी उपाय तो करके देखता है, फिर होना न होना भगवान् के आधीन है।"

बाबू साहब हँसकर बोले—"तुम्हारी-जैसी सीधी स्त्री भी........ क्या कहूँ, तुम इन ज्योतिषियों की बातों पर विश्वास करती हो, जो दुनिया भर के झूठे और धूर्त हैं। ये झूठ बोलने ही की रोटियाँ खाते हैं।"

रामेश्वरी तुनककर बोलीं—"तुम्हें तो सारा संसार झूठा ही दिखाई पड़ता है। ये पोथी-पुराण भी सब झूठे हैं? पंडित कुछ अपनी तरफ से तो बनाकर कहते ही नहीं हैं। शास्त्र में जो लिखा है, वही वे भी कहते हैं। शास्त्र झूठा है, तो वे भी झूठे हैं। अँगरेजी क्या पढ़ी, अपने आगे किसी को गिनते ही नहीं। जो बातें बाप-दादे के जमाने से चली आई हैं, उन्हें भी झूठी बताते हैं।"

बाबू साहब—"तुम बात तो समझती नहीं, अपनी ही ओटे जाती हो। मैं यह नहीं कहता कि ज्योतिष-शास्त्र झूठा है, संभव है वह सच्चा हो। परन्तु ज्योतिषियों में अधिकांश झूठे होते हैं। उन्हें ज्योतिष का पूर्ण ज्ञान तो होता नहीं, दो-एक छोटी-मोटी पुस्तकें पढ़कर ज्योतिषी बन बैठते और लोगों को ठगते फिरते हैं। ऐसी दशा में उनकी बातों पर कैसे विश्वास किया जा सकता है?"

रामेश्वरी—"हूँ, सब झूठे ही हैं, तुम्हीं एक बड़े सच्चे हो! अच्छा, एक बात पूछती हूँ। भला तुम्हारे जी में संतान की इच्छा क्या कभी नहीं होती?"

इस बार रामेश्वरी ने बाबू साहब के हृदय का कोमल स्थान पकड़ा। वे कुछ देर चुप रहे। तत्पश्चात् एक लम्बी साँस लेकर बोले—"भला ऐसा कौन मनुष्य होगा जिसके हृदय में सन्तान का मुख देखने की इच्छा न हो? परन्तु क्या किया जाय? जब नहीं है, और न होने की कोई आशा ही है, तब उसके लिए व्यर्थ चिन्ता करने से क्या लाभ? इसके सिवा, जो बात अपनी सन्तान से होती, वही भाई की सन्तान से भी हो रही है। जितना स्नेह अपनी पर होता, उतना ही इन पर भी है, जो आनन्द अपनी सन्तान की बाल-क्रीड़ा से आता, वही इनकी क्रीड़ा से भी आ रहा है। फिर मैं नहीं समझता कि चिंता क्यों की जाय।"

रामेश्वरी कुढ़कर बोलीं—"तुम्हारी समझ को मैं क्या कहूँ। इसी से रात-दिन जला करती हूँ। भला यह तो बताओ कि तुम्हारे पीछे क्या इन्हीं से तुम्हारा नाम चलेगा?"

बाबू साहब हँसकर बोले—"अरे तुम भी कहाँ की पोच बातें लाईं। नाम सन्तान से नहीं चलता। नाम अपनी सुकृति से चलता है। तुलसीदास को देश का बच्चा-बच्चा जानता है। सूरदास को मरे कितने

दिन हो चुके ? इसी प्रकार जितने महात्मा हो गये मैं, उन सबका नाम क्या उनकी सन्तान ही की बदौलत चल रहा है ? सच पूछो, तो सन्तान से जितनी नाम चलने की आशा रहती है, उतनी ही नाम डूब जाने की भी संभावना रहती है। परन्तु सुकृति एक ऐसी वस्तु है, जिससे नाम बढ़ने के सिवा घटने की कभी आशंका रहती ही नहीं। हमारे शहर में राय गिरिधारीलाल कितने नामी आदमी थे ? उनके संतान कहाँ है ? पर उनकी धर्मशाला और अनाथालय से उनका नाम अब तक चला जा रहा है, और अभी न जाने कितने दिनों तक चला जायगा।"

राममेश्वरी—"शास्त्र में लिखा है कि जिसके पुत्र नहीं होता, उसकी मुक्ति नहीं होती ?"

बाबू—"मुक्ति पर मुझे विश्वास ही नहीं। मुक्ति है किस चिड़िया का नाम ? यदि मुक्ति होना मान भी लिया जाय, तो यह कैसे माना जा सकता है कि सब पुत्रवानों को मुक्ति हो ही जाती है ? मुक्ति का भी क्या सहज उपाय है। ये जितने पुत्रवाले हैं, सभी की तो मुक्ति हो जाती होगी ?"

रामेश्वरी निरुत्तर होकर बोलीं—"अब तुमसे कौन बकवाद करे। तुम तो अपने सामने किसी की मानते ही नहीं।"

(३)

मनुष्य का हृदय बड़ा ममत्व-प्रेमी है। कैसी ही उपयोगी और कितनी ही सुन्दर वस्तु क्यों न हो, जब तक मनुष्य उसको पराई समझता है, तब तक उससे प्रेम नहीं करता। किन्तु भद्दी-से-भद्दी और बिलकुल काम में न आनेवाली वस्तु को भी यदि मनुष्य अपनी समझता है, तो उससे प्रेम करता है। पराई वस्तु कितनी ही मूल्यवान् क्यों न हो, कितनी ही उपयोगी क्यों न हो, कितनी ही सुन्दर क्यों न हो, उसके नष्ट होने पर मनुष्य कुछ भी दुःख का अनुभव नहीं करता,

इसलिए कि वह वस्तु उसकी नहीं, पराई है। अपनी वस्तु कितनी ही भद्दी हो, काम में न आनेवाली हो, उसके नष्ट होने पर मनुष्य को दुःख होता है, इसलिए कि वह अपनी चीज है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि मनुष्य पराई चीज से प्रेम करने लगता है। ऐसी दशा में भी जब तक मनुष्य उस वस्तु को अपनी बनाकर नहीं छोड़ता, अथवा अपने हृदय में यह विचार नहीं दृढ़ कर लेता कि यह वस्तु मेरी है, तब तक उसे संतोष नहीं होता। ममत्व से प्रेम उत्पन्न होता है, और प्रेम से ममत्व। इन दोनों का साथ चोली-दामन का-सा है। ये कभी पृथक् नहीं किये जा सकते।''

यद्यपि रामेश्वरी को माता बनने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था, तथापि उनका हृदय एक माता का हृदय बनने की पूरी योग्यता रखता था। उनके हृदय में वे गुण विद्यमान तथा अंतर्निहित थे, जो एक माता के हृदय में होते हैं, परन्तु उनका विकाश नहीं हुआ था। उनका हृदय उस भूमि की तरह था, जिसमें बीज तो पड़ा हुआ है, पर उसको सींचकर और इस प्रकार बीज को प्रस्फुटित करके भूमि के ऊपर लाने-वाला कोई नहीं। इसी लिए उनका हृदय उन बच्चों की ओर खिंचता तो था, परन्तु जब उन्हें ध्यान आता था कि ये बच्चे मेरे नहीं, दूसरे के हैं, तब उनके हृदय में उनके प्रति द्वेष उत्पन्न होता था, घृणा पैदा होती थी। विशेषकर उस समय उनके द्वेष की मात्रा और भी बढ़ जाती थी, जब वे यह देखती थीं कि उनके पतिदेव उन बच्चों पर प्राण देते हैं, जो उनके (रामेश्वरी के) नहीं हैं।

शाम का समय था। रामेश्वरी खुली छत पर बैठी हवा खा रही थीं। पास ही उनकी देवरानी भी बैठी थीं। दोनों बच्चे छत पर दौड़-दौड़कर खेल रहे थे। रामेश्वरी उनके खेल को देख रही थीं। इस समय रामेश्वरी को उन बच्चों का खेलना-कूदना बड़ा भला मालूम हो

रहा था। हवा में उड़ते हुए उनके बाल, कमल की तरह खिले हुए उनके नन्हें-नन्हें मुख, उनकी प्यारी-प्यारी तोतली बातें, उनका चिल्लाना, भागना, लोट जाना इत्यादि क्रीड़ायें उनके हृदय को शीतल कर रही थीं। सहसा मनोहर अपनी बहन को मारने दौड़ा। वह खिलखिलाती हुई दौड़कर रामेश्वरी की गोद में जा गिरी। उसके पीछे-पीछे मनोहर भी दौड़ता हुआ आया, और वह भी उन्हीं की गोद में जा गिरा। रामेश्वरी उस समय सारा द्वेष भूल गईं। उन्होंने दोनों बच्चों को उसी प्रकार हृदय से लगा लिया, जिस प्रकार वह मनुष्य लगाता है, जो कि बच्चों के लिए तरस रहा हो। उन्होंने बड़ी सतृष्णता से दोनों को प्यार किया। उस समय यदि कोई अपरिचित मनुष्य उन्हें देखता, तो उसे यही विश्वास होता कि रामेश्वरी ही उन बच्चों की माता हैं।

दोनों बच्चे बड़ी देर तक उनकी गोद में खेलते रहे। सहसा उसी समय किसी के आने की आहट पाकर बच्चों की माता वहाँ से उठकर चली गई।

"मनोहर, ले रेलगाड़ी।"—कहते हुए बाबू रामजीदास छत पर आये। उनका स्वर सुनते ही दोनों बच्चे रामेश्वरी की गोद से तड़पकर निकल भागे। रामजीदास ने पहले दोनों को खूब प्यार किया, फिर बैठकर रेलगाड़ी दिखाने लगे।

इधर रामेश्वरी की नींद-सी टूटी। पति को बच्चों में मगन होते देखकर उनकी भौंहें तन गईं। बच्चों के प्रति हृदय में फिर वही घृणा और द्वेष का भाव जाग उठा।

बच्चों को रेलगाड़ी देकर बाबू साहब रामेश्वरी के पास आये, और मुसकराकर बोले—"आज तो तुम बच्चों का बड़ा प्यार कर रही थीं! इससे मालूम होता है कि तुम्हारे हृदय में भी इनके प्रति कुछ प्रेम अवश्य है।"

रामेश्वरी को पति की यह बात बहुत बुरी लगी। उन्हें अपनी कमजोरी पर बड़ा दुःख हुआ। केवल दुःख ही नहीं, अपने ऊपर क्रोध भी आया। वह दुःख और क्रोध पति के उक्त वाक्य से और भी बढ़ गया। उनकी कमजोरी पति पर प्रकट हो गई, यह बात उनके लिए असह्य हो उठी।

रामजीदास बोले—"इसी लिए मैं कहता हूँ कि अपनी सन्तान के लिए सोच करना वृथा है। यदि तुम इनसे प्रेम करने लगो, तो तुम्हें ये ही अपनी सन्तान प्रतीत होने लगेंगे। मुझे इस बात से प्रसन्नता है कि तुम इनसे स्नेह करना सीख रही हो।"

यह बात बाबू साहब ने नितांत शुद्ध हृदय से कही थी; परंतु रामेश्वरी को इसमें व्यंग्य की तीक्ष्ण गंध मालूम हुई। उन्होंने कुढ़कर मन में कहा—इन्हें मौत भी नहीं आती। मर जायँ, पाप कटे! आठों पहर आँखों के सामने रहने से प्यार करने को जी ललचा ही उठता है। इनके मारे कलेजा और भी जला करता है।

बाबू साहब ने पत्नी को मौन देखकर कहा—"अब झेंपने से क्या लाभ? अपने प्रेम को छिपाने की चेष्टा करना व्यर्थ है, छिपाने की आवश्यकता भी नहीं है।"

रामेश्वरी जल-भुनकर बोलीं—"मुझे क्या पड़ी है जो मैं प्रेम करूँगी? तुम्हीं को मुबारक रहे! निगोड़े आप ही आ-आके घुसते हैं। एक घर में रहने से कभी-कभी हँसना-बोलना ही पड़ता है। अभी परसों जरा यों ही ढकेल दिया, उस पर तुमने सैकड़ों बातें सुनाईं। संकट में प्राण है, न यों चैन, न वों चैन।"

बाबू साहब को पत्नी के वाक्य सुनकर बड़ा क्रोध आया। उन्होंने कर्कश स्वर में कहा—"न-जाने कैसे हृदय की स्त्री है। अभी अच्छी खासी बैठी बच्चों को प्यार कर रही थी, मेरे आते ही गिरगिट की तरह

रंग बदलने लगी। अपनी इच्छा से चाहे जो करे, पर मेरे कहने से बल्लियों उछलती है। न जाने मेरी बातों में कौन-सा विष घुला रहता है! यदि मेरा कहना ही बुरा मालूम होता है तो न कहा करूँगा। पर इतना याद रक्खो कि अब जो कभी इनके विषय में निगोड़े-सिगोड़े इत्यादि अपशब्द निकाले, तो अच्छा न होगा! तुमसे मुझे ये बच्चे कहीं अधिक प्यारे हैं।"

रामेश्वरी ने इसका कोई उत्तर न दिया। अपने क्षोभ तथा क्रोध को वे आँखों-द्वारा निकालने लगीं।

जैसे-ही-जैसे बाबू रामजीदास का स्नेह दोनों बच्चों पर बढ़ता जाता था, वैसे-ही-वैसे रामेश्वरी के द्वेष और घृणा की मात्रा भी बढ़ती जाती थी। प्रायः बच्चों के पीछे पति-पत्नी में कहा-सुनी हो जाती थी, और रामेश्वरी को पति के कटु वचन सुनने पड़ते थे। जब रामेश्वरी ने यह देखा कि बच्चों के कारण वह पति की नजर से गिरती जा रही है, तब उनके हृदय में बड़ा तूफ़ान उठा। उन्होंने सोचा—पराये बच्चों के पीछे यह मुझसे प्रेम कम करते जाते हैं, मुझे हर समय बुरा-भला कहा करते हैं। इनके लिए ये बच्चे ही सब कुछ हैं, मैं कुछ भी नहीं! दुनिया मरती जाती है, पर इन दोनों की मौत नहीं। ये पैदा होते ही क्यों न मर गये। न ये होते, न मुझे ये दिन देखने पड़ते। जिस दिन ये मरेंगे उस दिन घी के दिये जलाऊँगी। इन्हेंाने ही मेरा घर सत्यानाश कर रक्खा है।

इसी प्रकार कुछ दिन व्यतीत हुये। एक दिन नियमानुसार रामेश्वरी छत पर अकेली बैठी हुई थीं। उनके हृदय में अनेक प्रकार के विचार आ रहे थे। विचार और कुछ नहीं, वही अपनी निज की संतान का अभाव, पति का भाई की संतान के प्रति अनुराग इत्यादि। कुछ देर बाद जब उनके विचार स्वयं उन्हीं को कष्टदायक प्रतीत

होने लगे, तब वे अपना ध्यान दूसरी ओर लगाने के लिए उठकर टहलने लगीं।

वे टहल ही रही थीं कि मनोहर दौड़ता हुआ आया। मनोहर को देखकर उनकी भृकुटी चढ़ गई, और वे छत की चहारदीवारी पर हाथ रखकर खड़ी हो गईं।

संध्या का समय था। आकाश में रंग-बिरंगी पतंग उड़ रही थीं। मनोहर कुछ देर तक खड़ा पतंगों को देखता और सोचता रहा कि कोई पतंग कटकर उसकी छत पर गिरे; तो क्या ही आनन्द आवे। देर तक पतंग गिरने की आशा करने के बाद वह दौड़कर रामेश्वरी के पास आया और उनकी टाँगों में लिपट कर बोला—"ताई हमें पतंग मँगा दो।"

रामेश्वरी ने झिझककर कहा—"चल हट, अपने ताऊ से माँग जाकर।"

मनोहर कुछ अप्रतिभ होकर फिर आकाश की ओर ताकने लगा। थोड़ी देर बाद उससे फिर न रहा गया। इस बार उसने बड़े लाड़ में आकर अत्यंत करुण-स्वर में कहा—"ताई, पतंग मँगा दो; हम भी उड़ावेंगे!"

इस बार उसकी भोली प्रार्थना से रामेश्वरी का कलेजा कुछ पसीज गया। वे कुछ देर तक उसकी ओर स्थिर दृष्टि से देखती रहीं। फिर उन्होंने एक लंबी साँस लेकर मन-ही-मन कहा—यदि यह मेरा पुत्र होता, तो आज मुझसे बढ़कर भाग्यवान् स्त्री संसार में दूसरी न होती। निगोड़-मारा कितना सुन्दर है, और कैसी प्यारी-प्यारी बातें करता है—यही जी चाहता है कि उठाकर छाती से लगा लें।

यह सोचकर वे उसके सिर पर हाथ फेरनेवाली ही थी कि

इतने में मनोहर उन्हें मौन देखकर बोला—"तुम हमें पतंग नहीं मँगवा दोगी, तो ताऊ जी से कहकर तुम्हें पिटवावेंगे।"

यद्यपि बच्चे की इस भोली बात में भी बड़ी मधुरता थी, तथापि रामेश्वरी का मुख क्रोध के मारे लाल हो गया। वे उसे झिड़ककर बोलीं—"जा, कह दे अपने ताऊ जी से। देखूँ वे मेरा क्या कर लेंगे।

मनोहर भयभीत होकर उनके पास से हट आया और फिर सतृष्ण नेत्रों से आकाश में उड़ती हुई पतंगों को देखने लगा।

इधर रामेश्वरी ने सोचा—यह सब ताऊ जी के दुलार का फल है कि बालिश्त भर का लड़का मुझे धमकाता है। ईश्वर करे इस दुलार पर बिजली टूटे।

उसी समय आकाश से एक पतंग कटकर उसी छत की ओर आई और रामेश्वरी के ऊपर से होती हुई छज्जे की ओर गई। छत के चारों ओर चहारदीवारी थी। जहाँ रामेश्वरी खड़ी हुई थीं; केवल वहीं पर एक द्वार था, जिससे छज्जे पर आ-जा सकते थे। रामेश्वरी उस द्वार से सटी हुई खड़ी थीं। मनोहर ने पतंग को छज्जे पर जाते देखा। पतंग पकड़ने के लिये वह दौड़कर छज्जे की ओर चला। रामेश्वरी खड़ी देखती रहीं। मनोहर उनके पास से होकर छज्जे पर चला गया और उनसे दो फ़ीट की दूरी पर खड़ा होकर पतंग को देखने लगा। पतंग छज्जे पर से होती हुई नीचे, घर के आँगन में, जा गिरी। एक पैर छज्जे की मुँड़ेर पर रखकर मनोहर ने नीचे आँगन में झाँका; और पतंग को आँगन में गिरते देख वह प्रसन्नता के मारे फूला न समाया। वह नीचे जाने के लिये शीघ्रता से घूमा; परन्तु घूमते समय मुँडेर पर से उसका पैर फिसल गया। वह नीचे की ओर चला। नीचे जाते जाते उसके दोनों हाथों में मुँडेर आ गई। वह उसे पकड़कर

लटक गया, और रामेश्वरी की ओर देखकर चिल्लाया—"ताई!" रामेश्वरी ने धड़कते हुये हृदय से इस घटना को देखा। उनके मन में आया कि अच्छा है, मरने दो, सदा का पाप कट जायगा। यही सोचकर वे एक क्षण के लिये रुकीं। उधर मनोहर के हाथ मुँडेर पर से फिसलने लगे। वह अत्यंत भय तथा करुणा नेत्रों से रामेश्वरी की ओर देखकर चिल्लाया—"अरी ताई!" रामेश्वरी की आँखें मनोहर की आँखों से जा मिलीं। मनोहर की वह करुण-दृष्टि देखकर रामेश्वरी का कलेजा मुँह को आ गया। उन्होंने व्याकुल होकर मनोहर के पकड़ने के लिये अपना हाथ बढ़ाया। उनका हाथ मनोहर के हाथ तक पहुँचा ही था कि मनोहर के हाथ से मुँडेर छूट गई। वह नीचे आ गिरा। रामेश्वरी चीख मारकर छज्जे पर गिर पड़ीं।

रामेश्वरी एक सप्ताह तक बुख़ार में बेहोश पड़ी रहीं। कभी-कभी वे ज़ोर से चिल्ला उठतीं; और कहतीं—"देखो-देखो वह गिरा जा रहा है—उसे बचाओ—दौड़ो—मेरे मनोहर को बचा लो।" कभी वे कहतीं—"बेटा मनोहर, मैंने तुझे नहीं बचाया। हाँ, हाँ, मैं चाहती, तो बचा सकती थी—मैंने देर कर दी।" इसी प्रकार के प्रलाप वे किया करतीं।

मनोहर की टाँग उखड़ गई थी। टाँग बिठा दी गई। वह क्रमशः फिर अपनी असली हालत पर आने लगा।

एक सप्ताह बाद रामेश्वरी का ज्वर कम हुआ। अच्छी तरह होश आने पर उन्होंने पूछा—"मनोहर कैसा है?"

रामजीदास ने उत्तर दिया—"अच्छा है।"

रामेश्वरी—"उसे मेरे पास लाओ।"

मनोहर रामेश्वरी के पास लाया गया। रामेश्वरी ने उसे बड़े

प्यार से हृदय से लगाया। आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गई। हिचकियों से गला रुँध गया।

रामेश्वरी कुछ दिनों बाद पूर्ण स्वस्थ हो गईं। अब वे मनोहर की बहन चुन्नी से भी द्वेष और घृणा नहीं करतीं। और, मनोहर तो अब उनका प्राणाधार हो गया है। उसके बिना उन्हें एक क्षण भी कल नहीं पड़ती।

पुरस्कार

[जयशंकरप्रसाद]

आर्द्रा नक्षत्र; आकाश में काले-काले बादलों की घुमड़, जिसमें देव-दुन्दुभी का गम्भीर घोष। प्राची के एक निरभ्र कोने से स्वर्ण पुरुष झाँकने लगा था—देखने लगा महाराज की सवारी। शैलमाला के अंचल में समतल उर्वरा-भूमि से सोंधी बास उठ रही थी। नगर-तोरण से जय-घोष हुआ, भीड़ में गजराज का चामरधारी शुण्ड उन्नत दिखाई पड़ा। वह हर्ष और उत्साह का समुद्र हिलोरें भरता हुआ आगे बढ़ने लगा।

प्रभात की हेम-किरणों से अनुरंजित नन्हीं-नन्हीं बूंदों का एक झोंका स्वर्ण-मल्लिका के समान बरस पड़ा। मंगल-सूचना से जनता ने हर्ष-ध्वनि की।

रथों, हाथियों और अश्वारोहियों की पंक्ति जम गई। दर्शकों की भीड़ भी कम न थी। गजराज बैठ गया, सीढ़ियों से महाराज उतरे।

सौभाग्यवती और कुमारी सुन्दरियों के दो दल, आम्र-पल्लवों से सुशोभित मंगल कलश और फूल, कुंकुम तथा खीलों से भरे थाल लिये, मधुर गान करते हुए आगे बढ़े।

महाराज के मुख पर मधुर मुस्कान थी। पुरोहित-वर्ग ने स्वस्त्ययन किया। स्वर्णरंजित हल की मूठ पकड़कर महाराज ने जुते हुए सुन्दर पुष्ट बैलों को चलाने का संकेत किया। बाजे बजने लगे। किशोरी कुमारियों ने खीलों और फूलों की वर्षा की।

कोशल का यह उत्सव प्रसिद्ध था। एक दिन के लिए महाराज को कृषक बनना पड़ता। उस दिन इन्द्र-पूजन की धूम-धाम होती; गोठ होती। नगर-निवासी उस पहाड़ी भूमि में आनन्द मनाते। प्रतिवर्ष कृषि का यह महोत्सव उत्साह से सम्पन्न होता, दूसरे राज्यों से भी युवक राजकुमार इस उत्सव में बड़े चाव से आकर योग देते।

मगध का राजकुमार अरुण अपने रथ पर बैठा बड़े कुतूहल से यह दृश्य देख रहा था।

बीजों का एक थाल लिये कुमारी मधूलिका महाराज के साथ थी। बीज बोते हुए महाराज जब हाथ बढ़ाते तब मधूलिका उनके सामने थाल कर देती। यह खेत मधूलिका का था, जो इस साल महाराज की खेती के लिए चुना गया था। इसलिए बीज देने का सम्मान मधूलिका ही को मिला। वह कुमारी थी। सुन्दर थी। कौशेय-वसन उसके शरीर पर इधर-उधर लहराता हुआ स्वयं शोभित हो रहा था। वह कभी उसे सँभालती और कभी अपने रूखे अलकों को। कृषक बालिका के शुभ्र भाल पर श्रमकणों की भी कमी न थी, वे सब बरौनियों में गुँथे जा रहे थे। सम्मान और लज्जा उसके अधरों पर मन्द मुस्कुराहट के साथ सिहर उठते; किन्तु महाराज को बीज देने में उसने शिथिलता न दिखलाई। सब लोग महाराज का हल चलाना देख रहे

थे—विस्मय से, कुतूहल से। और अरुण देख रहा था कृषक-कुमारी मधूलिका को। आह कितना भोला सौन्दर्य! कितनी सरल चितवन!

उत्सव का प्रधान कृत्य समाप्त हो गया। महाराज ने मधूलिका के खेत का पुरस्कार दिया, थाल में कुछ स्वर्ण-मुद्रायें। वह राजकीय अनुग्रह था। मधूलिका ने थाल सिर से लगा लिया; किन्तु साथ ही उसमें की स्वर्ण-मुद्राओं को महाराज पर न्योछावर करके बिखेर दिया। मधूलिका की उस समय की उर्जस्वित मूर्ति लोग आश्चर्य से देखने लगे। महाराज की भृकुटि भी जरा चढ़ी ही थी कि मधूलिका ने सविनय कहा—

"देव! यह मेरे पितृ-पितामहों की भूमि है। इसे बेचना अपराध है; इसलिए मूल्य स्वीकार करना मेरी सामर्थ्य के बाहर है।" महाराज के बोलने के पहले ही वृद्ध मंत्री ने तीखे स्वर से कहा—"अबोध! क्या बक रही है? राजकीय अनुग्रह का तिरस्कार! तेरी भूमि से चौगुना मूल्य है, फिर कोशल का तो यह सुनिश्चित राष्ट्रीय नियम है। तू आज से राजकीय लक्षण पाने की अधिकारिणी हुई, इस धन से अपने को सुखी बना।"

"राजकीय लक्षण की अधिकारिणी तो सारी प्रजा है मंत्रि-वर!........महाराज को भूमि समर्पण करने में तो मेरा कोई विरोध न था और न है; किन्तु मूल्य स्वीकार करना असम्भव है।" मधूलिका उत्तेजित हो उठी थी।

महाराज के संकेत करने पर मंत्री ने कहा—"देव! वाराणसी-युद्ध के अन्यतम वीर सिंहमित्र की यह एक-मात्र कन्या है।" महाराज चौंक उठे—"सिंहमित्र की कन्या! जिसने मगध के सामने कोशल की लाज रखी थी, उसी वीर की मधूलिका कन्या है?"

"हाँ, देव!"—सविनय मंत्री ने कहा।

"इस उत्सव के परम्परागत नियम क्या हैं, मंत्रिवर ?" महाराज ने पूछा।

"देव, नियम तो बहुत साधारण हैं। किसी भी अच्छी भूमि को इस उत्सव के लिए चुनकर नियमानुसार पुरस्कार-स्वरूप उसका मूल्य दे दिया जाता है। वह भी अत्यन्त अनुग्रहपूर्वक। अर्थात् भू-सम्पत्ति का चौगुना मूल्य उसे मिलता है। उस खेती को वही व्यक्ति वर्ष भर देखता है। वह राजा का खेत कहा जाता है।"

महाराज को विचार-संघर्ष से विश्राम की अत्यन्त आवश्यकता थी। महाराज चुप रहे। जयघोष के साथ सभा विसर्जित हुई। सब अपने अपने शिविरों में चले गये। किन्तु मधूलिका को उत्सव में फिर किसी ने न देखा। वह अपने खेत की सीमा पर विशाल मधूक वृक्ष के चिकने हरे पत्तों की छाया में अनमनी चुपचाप बैठी रही।

रात्रि का उत्सव अब विश्राम ले रहा था। राजकुमार अरुण उसमें सम्मिलित नहीं हुआ—वह अपने विश्राम-भवन में जागरण कर रहा था। आँखों में नींद न थी। प्राची में जैसी गुलाली खिल रही थी; वही रंग उसकी आँखों में था। सामने देखा तो मुँडेर पर कपोती एक पैर पर खड़ी पंख फैलाये अँगड़ाई ले रही थी। अरुण उठ खड़ा हुआ। द्वार पर सुसज्जित अश्व था, वह देखते देखते नगर-तोरण पर जा पहुँचा। रक्षकगण ऊँघ रहे थे। वे अश्व के पैरों के शब्द से चौंक उठे।

युवक कुमार तीर-सा निकल गया। सिन्धु देश का तुरङ्ग प्रभात के पवन से पुलकित हो रहा था। घूमता-घामता अरुण उसी मधूक वृक्ष के नीचे पहुँचा, जहाँ मधूलिका अपने हाथ पर सिर धरे हुए खिन्न निद्रा का सुख ले रही थी।

अरुण ने देखा, एक छिन्न माधवी-लता वृक्ष की शाखा से च्युत

होकर पड़ी है। सुमन मुकुलित, भ्रमर निस्पन्द थे। अरुण ने अपने अश्व को मौन रहने का संकेत किया, उस सुषुमा को देखने के लिए; परन्तु कोकिल बोल उठा। उसने अरुण से प्रश्न किया—"छिः कुमारी के सोये हुए सौन्दर्य पर दृष्टिपात करनेवाले धृष्ट, तुम कौन ?" मधूलिका की आँखें खुल पड़ीं ! उसने देखा, एक अपरिचित युवक। वह संकोच से उठ बैठी। "भद्रे ! तुम्हीं न कल के उत्सव की संचालिका रही हो ?"

"उत्सव ! हाँ, उत्सव ही तो था।"

"कल उस सम्मान...."

"क्यों आपको कल का स्वप्न सता रहा है ? भद्र ! आप क्या मुझे इस अवस्था में संतुष्ट न रहने देंगे ?"

"मेरा हृदय तुम्हारी उस छबि का भक्त बन गया है, देवि !"

"मेरे उस अभिनय का—मेरी विडम्बना का। आह ! मनुष्य कितना निर्दय है, अपरिचित ! क्षमा करो, जाओ अपने मार्ग।"

"सरलता की देवि ! मैं मगध का राजकुमार तुम्हारे अनुग्रह का प्रार्थी हूँ—मेरे हृदय की भावना अवगुण्ठन में रहना नहीं जानती। उसे अपनी...."

"राजकुमार ! मैं कृषक-बालिका हूँ। आप नन्दनबिहारी और मैं पृथ्वी पर परिश्रम करके जीनेवाली। आज मेरे स्नेह की भूमि पर मेरा अधिकार छीन लिया गया है। मैं दुःख से विकल हूँ; मेरा उपहास न करो !"

"मैं कोशल-नरेश से तुम्हारी भूमि तुम्हें दिलवा दूँगा।"

"नहीं, वह कोशल का राष्ट्रीय नियम है। मैं उसे बदलना नहीं चाहती—चाहे उससे मुझे कितना ही दुःख हो।"

"तब तुम्हारा रहस्य क्या है ?"

"यह रहस्य मानव-हृदय का है, मेरा नहीं। राजकुमार, नियमों से यदि मानव-हृदय बाध्य होता, तो आज मगध के राजकुमार का हृदय किसी राजकुमारी की ओर न खिंचकर एक कृषक-बालिका का अपमान करने न आता।" मधूलिका उठ खड़ी हुई।

चोट खाकर राजकुमार लौट पड़ा। किशोर-किरणों में उसका रत्न-किरीट चमक उठा। अश्व वेग से चला जा रहा था और मधूलिका निष्ठुर प्रहार करके स्वयं आहत न हुई? उसके हृदय में टीस-सी होने लगी। वह सजल नेत्रों से उड़ती हुई धूल देखने लगी।

× × ×

मधूलिका ने राजा का प्रतिदान, अनुग्रह, नहीं लिया। वह दूसरे खेतों में काम करती और चौथे पहर रूखी-सूखी रोटी खाकर पड़ रहती। मधूक वृक्ष के नीचे छोटी-सी पर्णकुटीर थी। सूखे डंठलों से उसकी दीवार बनी थी। मधूलिका का वही आश्रम था। कठोर परिश्रम से जो रूखा अन्न मिलता, वही उसकी साँसों को बढ़ाने के लिए पर्याप्त था। दुबली होने पर भी उसके अंग पर तपस्या की कांति थी। आस-पास के कृषक उसका आदर करते। वह एक आदर्श बालिका थी। दिन, सप्ताह, महीने और वर्ष बीतने लगे।

शीतकाल की रजनी, मेघों से भरा आकाश, जिसमें बिजली की दौड़-धूप। मधूलिका का छाजन टपक रहा था; ओढ़ने की कमी थी। वह ठिठुर कर एक कोने में बैठी थी। मधूलिका अपने अभाव को आज बढ़ाकर सोच रही थी। जीवन के सामंजस्य बनाये रखनेवाले उपकरण तो अपनी सीमा निर्धारित रखते हैं; परन्तु उनकी आवश्यकता और कल्पना भावना के साथ घटती-बढ़ती रहती है। आज बहुत दिनों पर उसे बीती हुई बात स्मरण हुई—दो, नहीं नहीं तीन वर्ष हुए होंगे, इसी मधूक के नीचे, प्रभात में—तरुण राजकुमार ने क्या कहा था?

वह अपने हृदय से पूछने लगी—उन चाटुकारी के शब्दों को सुनने के लिए उत्सुक-सी वह पूछने लगी—क्या कहा था ? दुख-दग्ध हृदय उन स्वप्न-सी बातों को स्मरण रख सकता था ! और स्मरण ही होता, तो भी कष्टों की इस काली निशा में वह कहने का साहस करता ? हायरी विडम्बना !

आज मधूलिका उस बीते हुए क्षण को लौटा लेने के लिए विकल थी। दारिद्रय की ठोकरों ने उसे व्यथित और अधीर कर दिया। मगध की प्रासादमाला के वैभव का काल्पनिक चित्र—उन सूखे डंठलों के रन्ध्रों से नीचे नभ में बिजली के आलोक में—नाचता हुआ दिखाई देने लगा। खिलवाड़ी शिशु जैसे श्रावण की सन्ध्या में जुगुनू को पकड़ने के लिये हाथ लपकाता है वैसे ही मधूलिका मन ही मन कह रही थी। 'अभी वह निकल गया।' वर्षा ने भीषण रूप धारण किया। गड़गड़ाहट बढ़ने लगी; ओले पड़ने की सम्भावना थी। मधूलिका अपनी जर्जर झोपड़ी के लिए काँप उठी। सहसा बाहर कुछ शब्द हुआ—

"कौन है यहाँ ? पथिक को आश्रय चाहिए !"

मधूलिका ने डंठलों का कपाट खोल दिया। बिजली चमक उठी। उसने देखा, एक पुरुष घोड़े की डोर पकड़े खड़ा है। सहसा वह चिल्ला उठी—राजकुमार !

"मधूलिका ?" आश्चर्य से युवक ने कहा।

एक क्षण के लिए सन्नाटा छा गया। मधूलिका अपनी कल्पना को सहसा प्रत्यक्ष देखकर चकित हो गई—इतने दिनों के बाद आज फिर !

अरुण ने कहा—कितना समझाया मैंने—परन्तु....

मधूलिका अपनी दयनीय अवस्था पर संकेत करने देना नहीं चाहती थी। उसने कहा—और आज आपकी यह क्या दशा है ?

सिर झुकाकर अरुण ने कहा—मैं मगध का विद्रोही निर्वासित कोशल में जीविका खोजने आया हूँ।

मधूलिका उस अन्धकार में हँस पड़ी—"मगध के विद्रोही राजकुमार का स्वागत करे एक अनाथिनी कृषक बालिका, यह भी एक विडम्बना है, तो भी मैं स्वागत के लिए प्रस्तुत हूँ।"

× × ×

शीतकाल की निस्तब्ध रजनी, कुहरे से धुली हुई चाँदनी, हाड़ कँपा देनेवाला समीर, तो भी अरुण और मधूलिका दोनों पहाड़ी गह्वर के द्वार पर वट-वृक्ष के नीचे बैठे हुए बातें कर रहे हैं। मधूलिका की वाणी में उत्साह था; किन्तु अरुण जैसे अत्यन्त सावधान होकर बोलता।

मधूलिका ने पूछा—'जब तुम इतनी विपन्न अवस्था में हो, तो फिर इतने सैनिकों को साथ रखने की क्या आवश्यकता है?"

"मधूलिका! बाहुबल ही तो वीरों की आजीविका है। ये मेरे जीवन-मरण के साथी हैं। भला मैं इन्हें कैसे छोड़ देता? और करता ही क्या?"

"क्यों हम लोग परिश्रम से कमाते और खाते। अब तो तुम...........।"

"भूल न करो, मैं अपने बाहुबल पर भरोसा करता हूँ। नये राज्य की स्थापना कर सकता हूँ, निराश क्यों हो जाऊँ?" अरुण के शब्दों में कम्पन था; वह जैसे कुछ कहना चाहता था; पर कह न सकता था।

'नवीन राज्य! ओहो, तुम्हारा उत्साह तो कम नहीं। भला कैसे? कोई ढङ्ग बताओ, तो मैं भी कल्पना का आनन्द ले लूँ।'

"कल्पना का आनन्द नहीं मधूलिका, मैं तुम्हें राजरानी के

सम्मान में सिंहासन पर बिठाऊँगा ! तुम अपने छिने हुए खेत की चिन्ता करके भयभीत न हो ।''

एक क्षण में सरला मधूलिका के मन में प्रमोद का अन्धड़ बहने लगा—द्वन्द्व मच गया । उसने सहसा कहा—आह, मैं सचमुच आज तक तुम्हारी प्रतीक्षा करती थी, राजकुमार !

अरुण ढिठाई से उसके हाथों को दबाकर बोला—तो मेरा भ्रम था, तुम सचमुच मुझे प्यार करती हो ?

युवती का वक्षस्थल फूल उठा, वह हाँ भी नहीं कह सकी, ना भी नहीं । अरुण ने उसकी अवस्था का अनुभव कर लिया । कुशल मनुष्य के समान उसने अवसर को हाथ से न जाने दिया । तुरन्त बोल उठा—"तुम्हारी इच्छा हो तो प्राणों से पण लगाकर मैं तुम्हें इसी कोशल-सिंहासन पर बिठा दूँ । मधूलिका ! अरुण के खड्ग का आतंक देखोगी ?'' मधूलिका एक बार काँप उठी । वह कहना चाहती थी, नहीं—किन्तु उसके मुँह से निकला—क्या ?

"सत्य मधूलिका, कोशल-नरेश तभी से तुम्हारे लिए चिंतित हैं । यह मैं जानता हूँ, तुम्हारी साधारण-सी प्रार्थना वह अस्वीकार न करेंगे । और मुझे यह भी विदित है कि कोशल के सेनापति अधिकांश सैनिकों के साथ पहाड़ी दस्युओं का दमन करने के लिए बहुत दूर चले गये हैं ।''

मधूलिका की आँखों के आगे बिजलियाँ हँसने लगीं । दारुण भावना से उसका मस्तक विकृत हो उठा । अरुण ने कहा—"तुम बोलती नहीं हो ?''

"जो कहोगे वही करूँगी''—मन्त्रमुग्ध-सी मधूलिका ने कहा ।

× × ×

स्वर्ण-मंच पर कोशल-नरेश अर्द्धनिद्रित अवस्था में आँखें मुकुलित किये हैं। एक चामरधारिणी युवती पीछे खड़ी अपनी कलाई बड़ी कुशलता से घुमा रही है। चामर के शुभ्र आन्दोलन उस प्रकोष्ठ में धीरे-धीरे संचालित हो रहे हैं। ताम्बूल-वाहिनी प्रतिमा के समान दूर खड़ी है।

प्रतिहारी ने आकर कहा—"जय हो देव! एक स्त्री कुछ प्रार्थना करने आई है।" आँख खोलते हुए महाराज ने कहा—"स्त्री! प्रार्थना करने आई है? आने दो।"

प्रतिहारी के साथ मधूलिका आई। उसने प्रणाम किया। महाराज ने स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देखा और कहा—"तुम्हें कहीं देखा है।"

"तीन वर्ष हुए देव! मेरी भूमि खेती के लिए ली गई थी।"

"ओह, तो तुमने इतने दिन कष्ट में बिताये, आज उसका मूल्य माँगने आई हो, क्यों? अच्छा, अच्छा, तुम्हें मिलेगा। प्रतिहारी!"

"नहीं महाराज, मुझे मूल्य नहीं चाहिए।"

"मूर्ख! फिर क्या चाहिए?"

"उतनी ही भूमि, दुर्ग के दक्षिणी नाले के समीप की जंगली भूमि, वहीं मैं अपनी खेती करूँगी। मुझे एक सहायक मिल गया है। वह मनुष्यों से मेरी सहायता करेगा, भूमि को समतल भी तो बनाना होगा।"

महाराज ने कहा—"कृषक-बालिके! वह बड़ी ऊबड़-खाबड़ भूमि है। तिस पर वह दुर्ग के समीप एक सैनिक महत्त्व रखती है।"

"तो फिर निराश लौट जाऊँ?"

"सिंहमित्र की कन्या, मैं क्या करूँ! तुम्हारी यह प्रार्थना!"

"देव ! जैसी आज्ञा हो।"

"जाओ तुम श्रमजीवियों को उसमें लगाओ। मैं अमात्य को आज्ञापत्र देने का आदेश करता हूँ।"

"जय हो देव!" कहकर प्रणाम करती हुई मधूलिका राज-मन्दिर के बाहर आई।

× × ×

दुर्ग के दक्षिण, भयावने नाले के तट पर घना जंगल है। आज वहाँ मनुष्यों के पद-संचार से शून्यता भङ्ग हो रही थी। अरुण के दिये हुए मनुष्य स्वतंत्रता से इधर-उधर घूमते थे। झाड़ियों को काट कर पथ बन रहा था। नगर दूर था, फिर उधर यों ही कोई नहीं आता था। फिर अब तो महाराज की आज्ञा से वहाँ मधूलिका का अच्छा-सा खेत बन रहा था। तब इधर की किसको चिन्ता होती?

एक घने कुंज में अरुण और मधूलिका एक दूसरे को हर्षित नेत्रों से देख रहे थे। संध्या हो चली थी। उस निविड़ वन में उन नवागत मनुष्यों को देखकर पक्षीगण अपने नीड़ को लौटते हुए अधिक कोलाहल कर रहे थे।

प्रसन्नता से अरुण की आँखें चमक उठीं। सूर्य की अन्तिम किरणें झुरमुट में घुसकर मधूलिका के कपोलों से खेलने लगीं। अरुण ने कहा—"चार पहर और, विश्वास करो प्रभात में ही इस जीर्ण कलेवर कोशल-राष्ट्र की राजधानी श्रावस्ती में तुम्हारा अभिषेक होगा। और मगध से निर्वासित मैं एक स्वतंत्र राष्ट्र का अधिपति बनूँगा, मधूलिके।"

"भयानक! अरुण तुम्हारा साहस देखकर मैं चकित हो रही हूँ। केवल सौ सैनिकों से तुम...."

"रात के तीसरे पहर मेरी विजय-यात्रा होगी।"

"तो तुमको इस विजय पर विश्वास है ?"

"अवश्य। तुम अपनी झोपड़ी में यह रात बिताओ। प्रभात से तो राजमन्दिर ही तुम्हारा लीला-निकेतन बनेगा।

मधूलिका प्रसन्न थी; किन्तु अरुण के लिए उसकी कल्याण-कामना सशंक थी। वह कभी-कभी उद्विग्न-सी होकर बालकों के समान प्रश्न कर बैठती।

अरुण उसका समाधान कर देता। सहसा कोई संकेत पाकर उसने कहा—"अच्छा अन्धकार अधिक हो गया। अभी तुम्हें दूर जाना है और मुझे भी प्राण-पण से इस अभियान के प्रारम्भिक कार्य्यों को अर्ध-रात्रि तक पूरा कर लेना चाहिए, तब रात्रि भर के लिए बिदा, मधूलिके!"

मधूलिका उठ खड़ी हुई। कँटीली झाड़ियों से उलझती हुई क्रम से बढ़नेवाले अन्धकार में वह अपनी झोपड़ी की ओर चली।

पथ अन्धकारमय था और मधूलिका का हृदय भी निविड़ तम से घिरा था। उसका मन सहसा विचलित हो उठा। मधुरता नष्ट हो गई। जितनी सुख-कल्पना थी, वह जैसे अन्धकार में विलीन होने लगी। वह भयभीत थी, पहला भय उसे अरुण के लिए उत्पन्न हुआ, यदि वह सफल न हुआ तो? फिर सहसा सोचने लगी—"वह क्यों सफल हो? श्रावस्ती दुर्ग एक विदेशी के अधिकार में क्यों चला जाय? मगध कोशल का चिर शत्रु! ओह, उसकी विजय! कोशल-नरेश ने क्या कहा था—"सिंहमित्र की कन्या।" सिंहमित्र कोशल-रक्षक वीर, उसी की कन्या आज क्या करने जा रही है? नहीं, नहीं।" 'मधूलिका! मधूलिका!!' जैसे उसके पिता उस अन्धकार में पुकार रहे थे। वह पगली की तरह चिल्ला उठी। रास्ता भूल गई।

रात एक पहर बीत चली, पर मधूलिका अपनी झोपड़ी तक न

पहुँची। वह उधेड़-बुन में विक्षिप्त-सी चली जा रही थी। उसकी आँखों के सामने कभी सिंहमित्र और कभी अरुण की मूर्त्ति अन्धकार में चित्रित हो जाती। उसे सामने आलोक दिखाई पड़ा। वह बीच पथ में खड़ी हो गई। प्रायः एक सौ उल्काधारी अश्वारोही चले आ रहे थे और आगे आगे एक वीर अधेड़ सैनिक था। उसके बायें हाथ में अश्व की वल्गा और दाहिने हाथ में नग्न खड्ग। अत्यन्त धीरता से वह टुकड़ी अपने पथ पर चल रही थी। परन्तु मधूलिका बीच पथ से हिली नहीं। प्रमुख सैनिक पास आ गया; पर मधूलिका अब भी नहीं हटी। सैनिक ने अश्व रोककर कहा—"कौन ?" कोई उत्तर नहीं मिला। तब तक दूसरे अश्वारोही ने कड़क कर कहा—"तू कौन है स्त्री ? कोशल के सेनापति को उत्तर शीघ्र दो।"

रमणी जैसे विकार-ग्रस्त स्वर से चिल्ला उठी—"बाँध लो, मुझे बाँध लो ! मेरी हत्या करो ! मैंने अपराध ही ऐसा किया है।"

सेनापति हँस पड़े, बोले—"पगली है।"

"पगली ! नहीं, यदि वही होती, तो इतनी विचार-वेदना क्यों होती ? सेनापति ! मुझे बाँध लो। राजा के पास ले चलो।"

"क्या है ? स्पष्ट कह !"

"श्रावस्ती का दुर्ग एक प्रहर में दस्युओं के हस्तगत हो जायगा। दक्षिणी नाले के पार से उनका आक्रमण होगा।"

सेनापति चौंक उठे। उन्होंने आश्चर्य से पूछा—"तू क्या कह रही है ?"

"मैं सत्य कह रही हूँ; शीघ्रता करो।"

सेनापति ने अस्सी सैनिकों को नाले की ओर धीरे-धीरे बढ़ने की आज्ञा दी और स्वयं बीस अश्वारोहियों के साथ दुर्ग की ओर बढ़े। मधूलिका एक अश्वारोही के साथ बाँध दी गई।

श्रावस्ती का दुर्ग, कोशल-राष्ट्र का केन्द्र, इस रात्रि में अपने विगत-वैभव का स्वप्न देख रहा था। भिन्न राजवंशों ने उसके प्रांतों पर अधिकार जमा लिया है। अब वह केवल कई गाँव का अधिपति है। फिर भी उसके साथ कोशल के अतीत की स्वर्णगाथायें लिपटी हैं। वही लोगों की ईर्ष्या का कारण है। जब थोड़े से अश्वारोही बड़े वेग से आते हुए दुर्ग-द्वार पर रुके तब दुर्ग के प्रहरी चौंक उठे। उल्का के आलोक में उन्होंने सेनापति को पहचाना, द्वार खुला। सेनापति घोड़े की पीठ से उतरे। उन्होंने कहा—"अग्निसेन! दुर्ग में कितने सैनिक होंगे?"

"सेनापति की जय हो! दो सौ।"

"उन्हें शीघ्र एकत्र करो; परन्तु बिना किसी शब्द के। १०० को लेकर तुम शीघ्र ही चुपचाप दुर्ग के दक्षिण की ओर चलो। आलोक और शब्द न हो।"

सेनापति ने मधूलिका की ओर देखा। वह खोल दी गई। उसे अपने पीछे आने का संकेत कर सेनापति राजमन्दिर की ओर बढ़े। प्रतिहारी ने सेनापति को देखते ही महाराज को सावधान किया। वह अपनी सुख-निद्रा के लिए प्रस्तुत हो रहे थे; किन्तु सेनापति और साथ में मधूलिका को देखते ही चंचल हो उठे। सेनापति ने कहा—"जय हो देव! इस स्त्री के कारण मुझे इस समय उपस्थित होना पड़ा है।"

महाराज ने स्थिर नेत्रों से देखकर कहा—"सिंहमित्र की कन्या, फिर यहाँ क्यों?—क्या तुम्हारा क्षेत्र नहीं बन रहा है? कोई बाधा? सेनापति! मैंने दुर्ग के दक्षिणी नाले के समीप की भूमि इसे दी है। क्या उसी सम्बन्ध में तुम कहना चाहते हो?"

"देव! किसी गुप्त शत्रु ने उसी ओर से आज की रात में दुर्ग

पर अधिकार कर लेने का प्रबन्ध किया है और इसी स्त्री ने मुझे पथ में यह सन्देश दिया है।"

राजा ने मधूलिका की ओर देखा। वह काँप उठी। घृणा और लज्जा से वह गड़ी जा रही थी। राजा ने पूछा—"मधूलिका, यह सत्य है?"

"हाँ देव!"

राजा ने सेनापति से कहा—"सैनिकों को एकत्र करके तुम चलो, मैं अभी आता हूँ।" सेनापति के चले जाने पर राजा ने कहा—"सिंहमित्र की कन्या! तुमने एक बार फिर कोशल का उपकार किया। यह सूचना देकर पुरस्कार का काम किया है। अच्छा, तुम यहीं ठहरो। पहले उन आततायियों का प्रबन्ध करलूँ।"

× × ×

अपने साहसिक अभियान में अरुण बन्दी हुआ और दुर्ग उल्का के आलोक में अतिरंजित हो गया। भीड़ ने जय-घोष किया। सबके मन में उल्लास था। श्रावस्ती-दुर्ग आज दस्यु के हाथ में जाने से बचा। आबाल-वृद्ध-नर-नारी आनन्द से उन्मत्त हो उठे।

ऊषा के आलोक में सभा-मंडप दर्शकों से भर गया। बन्दी अरुण को देखते ही जनता ने रोष से हुङ्कार करते हुए कहा—"वध करो!" राजा ने सबसे सहमत होकर आज्ञा दी "प्राण-दण्ड।" मधूलिका बुलाई गई। वह पगली-सी आकर खड़ी हो गई। कोशल-नरेश ने पूछा—"मधूलिका, तुझे जो पुरस्कार लेना हो, माँग।" वह चुप रही।"

राजा ने कहा—'मेरे निज की जितनी खेती है, मैं सब तुझे देता हूँ।" मधूलिका ने एक बार बन्दी अरुण की ओर देखा। उसने

कहा—"मुझे कुछ न चाहिए।" अरुण हँस पड़ा। राजा ने कहा—"नहीं, मैं तुझे अवश्य दूँगा। माँग ले।"

"तो मुझे भी प्राणदण्ड मिले।" कहती हुई वह बन्दी अरुण के पास जा खड़ी हुई।

——

आत्माराम

[स्व० प्रेमचन्द]

(१)

बेंदो-ग्राम में महादेव सोनार एक सुविख्यात आदमी था। वह अपने सायबान में प्रातः से संध्या तक अँगीठी के सामने बैठा हुआ खट-खट किया करता था। यह लगातार ध्वनि सुनने के लोग इतने अभ्यस्त हो गए कि जब किसी कारण से वह बंद हो जाती, तो जान पड़ता था, कोई चीज गायब हो गई है। वह नित्यप्रति एक बार प्रातःकाल अपने तोते का पिंजड़ा लिए, कोई भजन गाता हुआ तालाब की ओर जाता था। उस धुँधले प्रकाश में उसका जर्जर शरीर, पोपला मुँह और झुकी हुई कमर देखकर किसी अपरिचित मनुष्य को उसके पिशाच होने का भ्रम हो सकता था। ज्यों ही लोगों के कानों में आवाज आती—"सत्त गुरदत्त शिवदत्त दाता", लोग समझ जाते कि भोर हो गया।

महादेव का पारिवारिक जीवन सुखमय न था। उसके तीन पुत्र थे, तीन बहुएँ थीं, दर्जनों नाती-पोते थे; लेकिन उसके बोझ को

हल्का करनेवाला कोई न था। लड़के कहते—"जब तक दादा जीते हैं, हम जीवन का आनंद भोग लें, फिर तो यह ढोल गले पड़ेगा ही।" बेचारे महादेव को कभी-कभी निराहार ही रहना पड़ता। भोजन के समय उसके घर में साम्यवाद का ऐसा गगन-भेदी निर्घोष होता कि वह भूखा ही उठ आता, और नारियल का हुक्का पीता हुआ सो जाता। उसका व्यावसायिक जीवन और भी अशांतिकारक था। यद्यपि वह अपने काम में निपुण था, उसकी खटाई औरों से कहीं ज्यादा शुद्धकारक और उसकी रासायनिक क्रियाएँ कहीं ज्यादा कष्टसाध्य थीं, तथापि उसे आये दिन शक्की और धैर्य्य-शून्य प्राणियों के अपशब्द सुनने पड़ते थे। पर महादेव अविचलित गांभीर्य से सिर झुकाये सब कुछ सुना करता। ज्यों ही यह कलह शांत होता, वह अपने तोते की ओर देखकर पुकार उठता—"सत्त गुरदत्त शिवदत्त दाता।" इस मंत्र के जपते ही उसके चित्त को पूर्ण शांति प्राप्त हो जाती थी।

(२)

एक दिन संयोग-वश किसी लड़के ने पिंजड़े का द्वार खोल लिया। तोता उड़ गया। महादेव ने सिर उठाकर जो पिंजड़े की ओर देखा, तो उसका कलेजा सन्न से हो गया। तोता कहाँ गया! उसने फिर पिंजड़े को देखा, तोता गायब था। महादेव घबराकर उठा, और इधर-उधर खपरैलों पर निगाह दौड़ाने लगा। उसे संसार में कोई वस्तु अगर प्यारी थी, तो वह यही तोता। लड़के-बालों, नाती-पोतों से उसका जी भर गया था। लड़कों की चुलबुल से उसके काम में विघ्न पड़ता था। बेटों से उसे प्रेम न था; इसलिये नहीं कि वे निकम्मे थे, बल्कि इसलिये कि उनके कारण वह अपने आनंददायी कुल्हड़ों की नियमित संख्या से वंचित रह जाता था। पड़ोसियों से उसे चिढ़

थी, इसलिए कि वह उसकी अँगीठी से आग निकाल ले जाते थे। इन समस्त विघ्न-बाधाओं से उसके लिए कोई पनाह थी, तो वह यही तोता। इससे उसे किसी प्रकार का कष्ट न होता था। वह अब उस अवस्था में था, जब मनुष्य को शांति-भोग के सिवा और कोई इच्छा नहीं रहती।

तोता एक खपरैल पर बैठा था। महादेव ने पिंजड़ा उतार लिया, और उसे दिखाकर कहने लगा—"आ, आ, सत्त गुरदत्त शिवदत्त दाता।" लेकिन गाँव और घर के लड़के एकत्र होकर चिल्लाने और तालियाँ बजाने लगे। ऊपर से कौओं ने काँव-काँव की रट लगाई। तोता उड़ा, और गाँव से बाहर निकलकर एक पेड़ पर जा बैठा। महादेव खाली पिंजड़ा लिये उसके पीछे दौड़ा, सो दौड़ा। लोगों को उसकी द्रुतगामिता पर अचंभा हो रहा था। मोह की इससे सुंदर, इससे सजीव, इससे भावमय कल्पना नहीं की जा सकती।

दोपहर हो गई थी। किसान लोग खेतों से चले आ रहे थे। उन्हें विनोद का अच्छा अवसर मिला। महादेव को चिढ़ाने में सभी को मजा आता था। किसी ने कंकड़ फेके, किसी ने तालियाँ बजाई; तोता फिर उड़ा, और वहाँ से दूर आम के बाग में एक पेड़ की फुनगी पर जा बैठा। महादेव फिर खाली पिंजड़ा लिये, मेढक की भाँति उचकता चला। बाग में पहुँचा, तो पैर के तलुओं से आग निकल रही थी, सिर चक्कर खा रहा था। जब जरा सावधान हुआ, तो फिर पिंजड़ा उठाकर कहने लगा—"सत्त गुरदत्त शिवदत्त दाता।" तोता फुनगी से उतरकर नीचे की एक डाल पर आ बैठा; किंतु महादेव की ओर सशंक नेत्रों से ताक रहा था। महादेव ने समझा, डर रहा है। वह पिंजड़े को छोड़कर आप एक दूसरे पेड़ की आड़ में छिप गया। तोते ने चारों ओर गौर से देखा। निश्शंक हो गया, उतरा, और

आकर पिंजड़े के ऊपर बैठ गया। महादेव का हृदय उछलने लगा। "सत्त गुरदत्त शिवदत्त दाता" का मंत्र जपता हुआ, धीरे-धीरे, तोते के समीप आया, और लपका कि तोते को पकड़ लें; किंतु तोता हाथ न आया, फिर पेड़ पर जा बैठा।

शाम तक यही हाल रहा। तोता कभी इस डाल पर जाता, कभी उस डाल पर। कभी पिंजड़े पर आ बैठता, कभी पिंजड़े के द्वार पर बैठ अपने दाना-पानी की प्यालियों को देखता, और फिर उड़ जाता। बुड्ढा अगर मूर्तिमान् मोह था, तो तोता मूर्तिमती माया। यहाँ तक कि शाम हो गई। माया और मोह का यह संग्राम अंधकार में विलीन हो गया।

(३)

रात हो गई। चारों ओर निविड़ अंधकार छा गया। तोता न-जाने पत्तों में कहाँ छिपा बैठा था। महादेव जानता था कि रात को तोता कहीं उड़कर नहीं जा सकता, और न पिंजड़े ही में आ सकता है, फिर भी वह उस जगह से हिलने का नाम न लेता था। आज उसने दिन भर कुछ नहीं खाया, रात के भोजन का समय भी निकल गया, पानी की एक बूँद भी उसके कंठ में न गई; लेकिन उसे न भूख थी, न प्यास। तोते के बिना उसे अपना जीवन निस्सार, शुष्क और सूना जान पड़ता था। वह दिन-रात काम करता था, इसलिए कि यह उसकी अंतःप्रेरणा थी, जीवन के और काम इसलिए करता था कि आदत थी। इन कामों में उसे अपनी सजीवता का लेशमात्र भी ज्ञान न होता था। तोता ही वह वस्तु था, जो उस चेतना की याद दिलाता था। उसका हाथ से जाना जीव का देह-त्याग करना था।

महादेव दिन भर का भूखा-प्यासा, थका-माँदा रह-रहकर झप-कियाँ ले लेता था; किंतु एक क्षण में फिर चौंककर आँखें खोल देता, और उस विस्तृत अंधकार में उसकी आवाज सुनाई देती—"सत्त गुरदत्त शिवदत्त दाता।"

आधी रात गुजर गई थी। सहसा वह कोई आहट पाकर चौंका। देखा, एक दूसरे वृक्ष के नीचे एक धुँधला दीपक जल रहा है, और कई आदमी बैठे हुए आपस में कुछ बातें कर रहे हैं। वे सब चिलम पी रहे थे। तमाखू की महक ने उसे अधीर कर दिया। उच्च स्वर से बोला—"सत्त गुरदत्त शिवदत्त दाता", और उन आदमियों की ओर चिलम पीने चला; किंतु जिस प्रकार बंदूक की आवाज सुनते ही हिरन भाग जाते हैं, उसी प्रकार उसे आते देख वे सब के सब उठकर भागे। कोई इधर गया, कोई उधर। महादेव चिल्लाने लगा—"ठहरो-ठहरो!" एकाएक उसे ध्यान आ गया, ये सब चोर हैं। वह जोर से चिल्ला उठा—"चोर-चोर, पकड़ो-पकड़ो!" चोरों ने पीछे फिरकर भी न देखा।

महादेव दीपक के पास गया, तो उसे एक कलसा रक्खा हुआ मिला। मोरचे से काला हो रहा था। महादेव का हृदय उछलने लगा। उसने कलसे में हाथ डाला, तो मोहरें थीं। उसने एक मोहर बाहर निकाली, और दीपक के उजाले में देखा; हाँ, मोहर थी। उसने तुरंत कलसा उठा लिया, दीपक बुझा दिया, और पेड़ के नीचे छिपकर बैठ रहा। साह से चोर बन गया।

उसे फिर शंका हुई, ऐसा न हो, चोर लौट आवें, और मुझे अकेला देखकर मोहरें छीन लें। उसने कुछ मोहरें कमर में बाँधीं, फिर एक सूखी लकड़ी से जमीन की मिट्टी हटाकर कई गड्ढे बनाए, उन्हें मोहरों से भरकर मिट्टी से ढक दिया।

(४)

महादेव के अंतर्नेत्रों के सामने अब एक दूसरा ही जगत् था—चिंताओं और कल्पनाओं से परिपूर्ण। यद्यपि अभी कोष के हाथ से निकल जाने का भय था; पर अभिलाषाओं ने अपना काम शुरू कर दिया। एक पक्का मकान बन गया, सराफे की एक भारी दूकान खुल गई, निज संबंधियों से फिर नाता जुड़ गया, विलास की सामग्रियाँ एकत्र हो गईं। तब तीर्थ-यात्रा करने चले, और वहाँ से लौटकर बड़े समारोह से यज्ञ, ब्रह्मभोज हुआ। इसके पश्चात् एक शिवालय और कुआँ बन गया, एक बाग भी लग गया, और वहाँ वह नित्यप्रति कथा-पुराण सुनने लगा। साधु-संतों का आदर-सत्कार होने लगा।

अकस्मात् उसे ध्यान आया, कहीं चोर आ जायँ; तो मैं भागूँगा क्योंकर ? उसने परीक्षा करने के लिए कलसा उठाया, और दो सौ पग तक बेतहाशा भागा हुआ चला गया। जान पड़ता था, उसके पैरों में पर लग गये हैं। चिंता शांत हो गई। इन्हीं कल्पनाओं में रात व्यतीत हो गई। ऊषा का आगमन हुआ, हवा जगी, चिड़ियाँ गाने लगीं। सहसा महादेव के कानों में आवाज आई—

"सत्त गुरदत्त शिवदत्त दाता,
राम के चरन में चित्त लागा।"

यह बोल सदैव महादेव की जिह्वा पर रहता था। दिन में सहस्रों ही बार ये शब्द उसके मुख से निकलते थे; पर उनका धार्मिक भाव कभी उसके अंतःकरण को स्पर्श न करता था। जैसे किसी बाजे से राग निकलता है, उसी प्रकार उसके मुँह से यह बोल निकलता था, निरर्थक और प्रभाव-शून्य। तब उसका हृदयरूपी वृक्षपत्र-पल्लव-विहीन था। यह

निर्मल वायु उसे गुंजारित न कर सकती थी। पर अब उस वृक्ष में कोपलें और शाखाएँ निकल आई थीं; इस वायु-प्रवाह से झूम उठा; गुंजित हो गया।

अरुणोदय का समय था। प्रकृति एक अनुरागमय प्रकाश में डूबी हुई थी। उसी समय तोता परों को जोड़े हुए ऊँची डाली से उतरा, जैसे आकाश से कोई तारा टूटे, और आकर पिंजड़े में बैठ गया। महादेव प्रफुल्लित होकर दौड़ा, और पिंजड़े को उठाकर बोला—"आओ आत्माराम, तुमने कष्ट तो बहुत दिया; पर मेरा जीवन भी सफल कर दिया। अब तुम्हें चाँदी के पिंजड़े में रक्खूँगा, और सोने से मढ़ दूँगा।" उसके रोम-रोम से परमात्मा के गुणानुवाद की ध्वनि निकलने लगी—प्रभु, तुम कितने दयावान् हो! यह तुम्हारा असीम वात्सल्य है, नहीं तो मुझ-जैसा पापी, पतित प्राणी कब इस कृपा के योग्य था! इन पवित्र भावों से उसकी आत्मा विह्वल हो गई। वह अनुरक्त होकर कह उठा—

"सत्त गुरदत्त शिवदत्त दाता,
राम के चरन में चित्त लागा।"

उसने एक हाथ में पिंजड़ा लटकाया, बगल में कलसा दबाया, और घर चला।

(५)

महादेव घर पहुँचा, तो अभी कुछ अँधेरा था। रास्ते में एक कुत्ते के सिवा और किसी से भेंट न हुई, और कुत्ते को मोहरों से विशेष प्रेम नहीं होता। उसने कलसे को एक नाँद में छिपा दिया और उसे कोयले से अच्छी तरह ढककर अपनी कोठरी में रख आया। जब दिन निकल आया, तो वह सीधे पुरोहितजी के घर पहुँचा। पुरोहितजी पूजा पर बैठे सोच रहे थे—कल ही मुकदमे की पेशी है, और अभी

तक हाथ में कौड़ी भी नहीं—जजमानों में कोई साँस भी नहीं लेता। इतने में महादेव ने पालागन की। पंडितजी ने मुँह फेर लिया। यह अमंगल-मूर्त्ति कहाँ से आ पहुँची, मालूम नहीं, दाना भी मयस्सर होगा या नहीं। रुष्ट होकर पूछा—"क्या है जी, क्या कहते हो? जानते नहीं, हम इस समय पूजा पर रहते हैं?" महादेव ने कहा—"महाराज, आज मेरे यहाँ सत्यनारायण की कथा है।"

पुरोहितजी विस्मित हो गये। कानों पर विश्वास न हुआ। महादेव के घर कथा का होना उतनी ही असाधारण घटना थी, जितनी अपने घर से किसी भिखारी के लिए भीख निकालना। पूछा—"आज क्या है?"

महादेव बोला—"कुछ नहीं, ऐसी ही इच्छा हुई कि आज भगवान् की कथा सुन लूँ।"

प्रभात ही से तैयारी होने लगी। बेंदो और अन्य निकटवर्ती गाँवों में सुपारी फिरी। कथा के उपरांत भोज का भी नेवता था। जो सुनता, आश्चर्य करता—'यह आज रेत में दूब कैसे जमी!"

संध्या-समय जब सब लोग जमा हो गये, पंडितजी अपने सिंहासन पर विराजमान हुए, तो महादेव खड़ा होकर उच्च स्वर से बोला—"भाइयो, मेरी सारी उम्र छल-कपट में कट गई। मैंने न-जाने कितने आदमियों को दगा दी, कितना खरे को खोटा किया, पर अब भगवान् ने मुझ पर दया की है, वह मेरे मुँह की कालिख मिटाना चाहते हैं। मैं आप सभी भाइयों से ललकारकर कहता हूँ कि जिसका मेरे जिम्मे जो कुछ निकलता हो, जिसकी जमा मैंने मार ली हो, जिसके चोखे माल को खोटा कर दिया हो, वह आकर अपनी एक-एक कौड़ी चुका ले। अगर कोई यहाँ न आ सका हो, तो आप लोग उससे जाकर कह दीजिये, कल से एक महीने तक जब

जी चाहे, आवे, और अपना हिसाब चुकता कर ले। गवाही-साखी का काम नहीं।'

सब लोग सन्नाटे में आ गये। कोई मार्मिक भाव से सिर हिलाकर बोला—"हम कहते न थे!" किसी ने अविश्वास से कहा—"क्या खाकर भरेगा, हजारों का टोटल हो जायगा!"

एक ठाकुर ने ठठोली की—"और जो लोग सुरधाम चले गये?"

महादेव ने उत्तर दिया—'उनके घरवाले तो होंगे?"

किंतु इस समय लोगों को वसूली की इतनी इच्छा न थी, जितनी यह जानने की कि इसे इतना धन मिल कहाँ से गया? किसी को महादेव के पास आने का साहस न हुआ। देहात के आदमी थे, गड़े मुर्दे उखाड़ना क्या जानें। फिर प्रायः लोगों को याद भी न था कि उन्हें महादेव से क्या पाना है, और ऐसे पवित्र अवसर पर भूल-चूक हो जाने का भय उनका मुँह बंद किये हुए था। सबसे बड़ी बात यह थी कि महादेव की साधुता ने उन्हें वशीभूत कर लिया था।

अचानक पुरोहितजी बोले—"तुम्हें याद है, मैंने एक कंठा बनाने के लिए सोना दिया था, और तुमने कई माशे तौल में उड़ा दिये थे।"

महादेव—"हाँ, याद है। आपका कितना नुकसान हुआ होगा?"

पुरोहित—"५०) से कम न होगा।"

महादेव ने कमर से दो मोहरें निकालीं, और पुरोहितजी के सामने रख दीं।

पुरोहित की लोलुपता पर टीकायें होने लगीं—"यह बेईमानी है, बहुत हो, तो दो-चार रुपये का नुकसान हुआ होगा। बेचारे से

५०) ऐंठ लिये। नारायण का भी डर नहीं। बनने को पंडित, पर नीयत ऐसी खराब ! राम-राम !!"

लोगों को महादेव पर एक श्रद्धा-सी हो गई। एक घंटा बीत गया ; पर उन सहस्रों मनुष्य में से एक भी न खड़ा हुआ। तब महादेव ने फिर कहा—"मालूम होता है, आप लोग अपना-अपना हिसाब भूल गये हैं। इसलिए आज कथा होने दीजिये, मैं एक महीने तक आपकी राह देखूँगा। इसके पीछे तीर्थ-यात्रा करने चला जाऊँगा। आप सब भाइयों से मेरी बिनती है कि आप मेरा उद्धार करें।'

एक महीने तक महादेव लेनदारों की राह देखता रहा। रात को चोरों के भय से नींद न आती। अब वह कोई काम न करता। शराब का चसका भी छूटा। साधु-अभ्यागत जो द्वार पर आ जाते, उनका यथायोग्य सत्कार करता। दूर-दूर उसका सुयश फैल गया। यहाँ तक कि महीना पूरा हो गया, और एक आदमी भी हिसाब लेने न आया। अब महादेव को ज्ञात हुआ कि संसार में कितना धर्म, कितना सद्-व्यवहार है। अब उसे मालूम हुआ कि संसार बुरों के लिए बुरा है, और अच्छों के लिए अच्छा।

(६)

इस घटना को हुए ५० वर्ष बीत चुके हैं। आप बेंदो जाइये, तो दूर ही से एक सुनहरा कलस दिखाई देता है। यह ठाकुरद्वारे का कलस है। उससे मिला हुआ एक पक्का तालाब है, जिसमें खूब कमल खिले रहते हैं। उसकी मछलियाँ कोई नहीं पकड़ता। तालाब के किनारे एक विशाल समाधि है। यही आत्माराम का स्मृति-चिह्न है। उनके संबंध में विभिन्न किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। कोई कहता है, उसका रत्न-जटित पिंजड़ा स्वर्ग को चला गया। कोई कहता है,

वह 'सत्त गुरदत्त' कहता हुआ अंतर्द्धान हो गया। पर यथार्थ यह है कि उस पत्नी-रूपी चंद्र को किसी बिल्ली-राहु ने ग्रस लिया। लोग कहते हैं, आधी रात को अभी तक तालाब के किनारे आवाज आती है—

"सत्त गुरदत्त शिवदत्त दाता,
राम के चरन में चित्त लागा।"

महादेव के विषय में भी कितनी जन-श्रुतियाँ हैं। उनमें सबसे मान्य यह है कि आत्माराम के समाधिस्थ होने के बाद वह कई संन्यासियों के साथ हिमालय चला गया, और वहाँ से लौटकर न आया। उसका नाम आतमाराम् प्रसिद्ध हो गया।

——

सिंहगढ़ आया, पर सिंह गया

[श्री चतुरसेन शास्त्री]

(१)

रात बहुत अँधेरी थी। रास्ता पहाड़ी और ऊबड़-खाबड़ था। आकाश पर बदली छाई हुई थी, और अभी कुछ देर पूर्व जोर की वर्षा हो चुकी थी। जब जोर की हवा से वृत्त और बड़ी-बड़ी घास सायँ-सायँ करती थी, तब जंगल का सन्नाटा और भी भयानक मालूम होता था।

उस समय उस जंगल में दो घुड़सवार बढ़े चले जा रहे थे। दोनों के घोड़े खूब मजबूत थे, पर वे पसीने से लतपत थे। घोड़े पग-

पग पर ठोकरें खाते थे, पर उन्हें ऐसे बीहड़ रास्तों में, ऐसे संकट के समय, अपने स्वामी को ले जाने का अभ्यास था। सवार भी असाधारण धैर्यवान् और वीर पुरुष थे। वे चुपचाप चल रहे थे। घोड़े की टापें और उनकी प्रगति से कमर में लटकती हुई उनकी तलवारों और बर्छों की खरखराहट उस सन्नाटे के आलम में एक भय-पूर्ण रव उत्पन्न करती थी।

हठात् घोड़े ने एक ठोकर खाई, और एक मंद आर्तनाद अग्रगामी सवार के कान में पड़ा! उसने घोड़े की बाग खींचते हुए कहा—"धाँधू जी ?" "महाराज।" पीछेवाला सवार क्षणभर में अग्रगामी सवार के सन्निकट आ गया, और उसने बिजली की भाँति अपनी तलवार खींच ली। अग्रगामी सवार का घोड़ा खड़ा हो गया था। उसने भी तलवार नंगी करके कहा—"देखो, क्या है ? घोड़े ने ठोकर खाई है, यह आर्तनाद कैसा है ?"

"धाँधू जी घोड़े से उतर पड़े, उन्होंने झुककर देखा, और कहा—"महाराज, एक मनुष्य है।" "क्या घायल है ?" "खून में लतपत प्रतीत होता है।" "जीवित है ?"

इसी समय पड़े हुए व्यक्ति ने फिर आर्तनाद किया। महाराज उत्तर की बिना प्रतीक्षा किये ही घोड़े से कूद पड़े। उन्होंने धाँधू जी को प्रकाश करने का आदेश दिया, और स्वयं मार्ग में पड़े व्यक्ति के सिरहाने घुटनों के बल बैठ गये। उन्होंने उसका सिर गोद में रख लिया, नाड़ी देखी, हृदय का स्पंदन देखा, और कहा—'जीवित है, पर मालूम होता है, बहुत घाव खाये हैं, रक्त बहुत निकल गया है।"

धाँधू जी ने तब तक चकमक पत्थर से अबरख की बनी चोर-लालटेन जला ली थी। वह उसे घायल के मुख के पास लाये। देखकर कहा—"अरे, बड़ा अल्पवयस्क बालक है!" "परन्तु अंग में घाव हैं, मालूम होता है, वीरतापूर्वक युद्ध किया है।"

मुमूर्षु ने प्रकाश और मनुष्य-मूर्ति को देखा और जल का संकेत किया। महाराज ने स्वयं उसके मुख में जल डाला। जल पीकर उसने आँखें खोलीं, और क्षीण स्वर में कहा—"आप कौन हैं प्राण-रक्षक ?" और फिर कुछ ठहरकर कहा—"आप चाहे जो भी हों, यह प्राण और शरीर आपके हुए।" उसके होंठों पर मंद हास्य की रेखा आई।

महाराज ने कहा—"धाँधू जी, इसका रक्त बन्द होना चाहिए। देखिए, सिर से अब तक रक्त बह रहा है और पार्श्व का यह घाव भी भयानक है।" इसके बाद दोनों व्यक्तियों ने उसके सभी घाव बाँधकर उसे स्वस्थ किया। इसके बाद वे सलाह करने लगे—"अब इसे कहाँ ले जाया जाय ? समय कम है, और हमारा गंतव्य पथ लम्बा।"

युवक ने स्वयं कहा—"यदि मुझे घोड़े पर बैठा दिया जाय, तो मैं मजे में चल सकूँगा।" "क्या निकट कोई गाँव है ?" "है, पर एक कोस के लगभग है।" "वहाँ कोई मित्र है ?" "हैं। वहाँ मेरी बहन का घर था, बहनोई हैं।" युवक का स्वर कंपित था। महाराज ने कहा—"बहन नहीं है ?"

"नहीं।" युवक का कंठ अवरुद्ध हुआ। उसके नेत्रों से झरझर आँसू बहने लगे। वह फिर बोला—"उसे आज तीसरे पहर बिदा कराके घर ले आ रहा था। बहनोई उस बाग तक साथ आये थे। उन्हें लौटते देर न हुई, ज्यों ही हम लोग इस खेड़े के निकट पहुँचे हैं, कोई पाँच सौ यवन-सैनिकों ने धावा बोल दिया। मेरे साथ केवल आठ आदमी थे। शायद सभी मारे गये। मैंने यथासाध्य विरोध किया, पर कुछ कर न सका, वे बहन का डोला ले आये। मैंने मूर्च्छित होने से प्रथम अच्छी तरह देखा, पर मैं

तलवार पकड़ ही न सका, फिर मेरी तलवार टूट भी गई थी।' युवक उद्वेग से मानो मूर्च्छित हो गया।

महाराज ने होंठ चबाया। एक बार उन्होंने अपने सिंह के समान नेत्रों से उस चोर-लालटेन के प्रकाश में चारों ओर देखा—टूटी तलवार, बर्छा, दो-चार लाशें और रक्त की धार। उन्होंने युवक से कहा—"तुम्हारे घर पर कौन है?" "वृद्धा विधवा माता।" "गाँव कौन है?" "मोरावा।" "दूर है?" "आठ कोस होगा।" "तुम्हारा नाम?" "तानाजी।" "घोड़े पर चढ़ सकोगे?" "जी।"

महाराज और धाँधू जी ने युवक को घोड़े पर लादा। धाँधू जी उसके पीछे बैठे और महाराज भी अपने घोड़े पर सवार हुए। इस बार ये यात्री अपना पथ छोड़कर युवक के आदेशानुसार गाँव की ओर बढ़े, पगडंडी सकरी और बहुत खराब थी। जगह-जगह पानी भर रहा था, पर जानवर सधे हुए और बहुत असील थे। धीरे-धीरे गाँव निकट आ गया। युवक के बताये मकान के द्वार पर जाकर धाँधू जी ने थपकी दी। एक युवक ने आकर द्वार खोला। धाँधू जी ने उसकी सहायता से घायल तानाजी को उतारकर घर में पहुँचाया। संक्षेप में दुर्घटना का हाल सुनकर गृह-पति युवक मर्माहत हुआ। धाँधू जी ने अवकाश न देखकर कहा—"तुम लोग परसों इसी समय हमारे यहाँ आने की प्रतीक्षा करना और घटना का कहीं भी जिक्र न करना।" तानाजी ने व्यग्र होकर कहा—"महोदय, आपका परिचय? मैं किसके प्रति कृतज्ञ होऊँ?" "छत्रपति हिन्दू-कुल-सूर्य महाराजाधिराज शिवाजी के प्रति।"

धाँधू जी ने अब विलम्ब न किया, वह लपककर घोड़े पर चढ़े, और दोनों असाधारण सवार उस अंधकार में विलीन हो गये।

(२)

पूना से पच्छिम ओर, विन्ध्याचल शृंग के एक दुरूह शिखर पर, एक अति प्राचीन, शायद बौद्ध-कालीन गुफा है। उसके निकट घने वृक्षों का झुरमुट है। एक अमृत के समान मीठे पानी का झरना भी है। इसी गुफा के सम्मुख, कोई एक तीर के अन्तर पर, एक विस्तृत मैदान है। उसे खास तौर पर साफ और समतल बनाया गया है।

वहाँ एक बलिष्ठ युवक बर्छा फेंकने का अभ्यास कर रहा था। युवक गौर वर्ण, सुन्दर, ठिंगना और लोहे के समान ठोस था। उसने अपने सुगठित हाथों में बर्छा उठाया और तोलकर एक वृक्ष को लक्ष्य करके फेंका। बर्छा वृक्ष को चीरता हुआ पार निकल गया। गम्भीर स्वर में किसी ने कहा—"ठीक नहीं हुआ, तुम्हारा लक्ष्य चलित हो गया।"

युवक ने माथे का पसीना पोंछकर पीछे फिरकर देखा। एक जटिल संन्यासी तीव्र दृष्टि से युवक को ताक रहे थे। युवक ने सिर झुका लिया। संन्यासी अग्रसर हुए। उन्होंने बर्छे को क्षण भर तोला, और विद्युत्-वेग से फेंक दिया। बर्छा स्थूल वृक्ष को चीरता हुआ क्षण भर ही में धरती में घुस गया। उत्साहित होकर युवक ने एक ही झटके में बर्छा उखाड़ा और महावेग से फेंका। इस बार बर्छा वृक्ष को चीरकर धरती में घुस गया। संन्यासी ने मंद-स्मित स्वर में कहा— 'हाँ, यह कुछ हुआ। वत्स, मैं तो वृद्ध हुआ, युवक-सा पौरुष कहाँ ? हाँ, तुम अभी स्फूर्ति और भी उत्पन्न करो।"

युवक ने गुरु के चरणों में प्रणाम किया और दोनों ने तलवारें निकाल लीं। प्रथम मन्द, फिर वेग और उसके बाद प्रचंड गति से दोनों गुरु-शिष्य तलवारें चलाने लगे, मानो बिजलियाँ टकरा रही

हों। दोनों महाप्राण पुरुष पसीने से लतपत हो गये। श्वास चढ़ गया, परन्तु उनका युद्ध-वेग कम न हुआ। दोनों ही चीते की भाँति उछल-उछलकर वार कर रहे थे, तलवारें झनझना रही थीं। गुरु ने ललकार कर कहा—"बेटे, लो, एक सच्चा वार तो करो। देखें, शत्रु को तुम किस भाँति हनन करोगे।" युवक ने आवेश में आकर संन्यासी के मोढ़े पर एक भरपूर वार किया। संन्यासी ने कतराकर एक जनेवा का हाथ जो दिया, तो युवक की तलवार झन्नाकर दस हाथ दूर पड़ी। संन्यासी ने युवक के कंठ पर तलवार रखकर कहा—"वत्स, बस यही तुम्हारा कौशल है? इस समय शत्रु क्या तुम्हें जीवित छोड़ता?"

युवक ने लज्जा से लाल होकर गुरु के चरण छुए और फिर तलवार उठा ली। इस बार उसने अन्धाधुन्ध वार किये, पर संन्यासी मानो विदेह पुरुष हैं। उनका शरीर मानो दैव-कवच से रक्षित था। वह वार बचाते, युवक को सावधान करते और तत्काल उसके शरीर पर तलवार छुला देते थे। अन्त में युवक का दम बिलकुल फूल गया। उसने तलवार गुरु के चरणों में रख दी और स्वयं भी लोट गया। गुरु ने उसे छाती से लगाया, और कहा—"वत्स, आज ही श्रावणी पूर्णिमा है, महाराज अभी आते होंगे। आज तुम्हें इस संन्यासी को त्यागना होगा और जिस पवित्र व्रत को तुमने लिया है, उसमें अग्रसर होना होगा। यद्यपि मैं जैसा चाहता था, वैसा तो नहीं, पर फिर भी तुम पृथ्वी पर अजेय योद्धा हो, तुम्हारी तलवार और बर्छे के सम्मुख कोई वीर स्थिर नहीं रह सकता।"

युवक फिर गुरु-चरण में लोट गया। उसने कहा—"प्रभो, अभी मुझे और कुछ सेवा करने दो।"

"नहीं वत्स, अभी तुम्हें बहुत कार्य करना है, उसकी साधना ही मेरी चरण-सेवा है।"

हठात् वज्र-ध्वनि हुई।

"छत्रपति महाराज शिवाजी की जय!" दोनों ने देखा, महाराज घोड़े से उतर रहे हैं। उन्होंने धीरे-धीरे आकर संन्यासी की चरण-रज ली और संन्यासी ने उन्हें उठाकर आशीर्वाद दिया। युवक ने आकर महाराज के सम्मुख घुटनों के बल बैठकर प्रणाम किया। महाराज ने कहा—"युवक, आज वही श्रावणी पूर्णिमा है।" "जी।" "आज उस घटना को तीन वर्ष हो गये, जब तुम्हें घायल करके शत्रु तुम्हारी बहन को हरण कर ले गये थे, तुम्हें स्मरण है?"

"हाँ महाराज, और आपने मुझे जीवन-दान दिया था, मैंने यह प्राण और शरीर आपकी भेंट किये थे।" "और तुमने प्रतिशोध की प्रतिज्ञा की थी?" "जी हाँ।" "मैंने तुम्हें गुरुजी की सेवा में तीन वर्ष के लिये इसलिये रक्खा था कि तुम शरीर, आत्मा और भावना के गम्भीर और दृढ़ बनो; तामसिक क्रोध का नाश करो, सात्विक तेज की ज्वाला से प्रज्वलित होओ।" "हाँ महाराज, गुरु-कृपा से मैंने आत्मशुद्धि की है।" "और अब तुम वैयक्तिक स्वार्थ के दास तो नहीं?" "नहीं प्रभो।" "प्रतिशोध लोगे?" "अवश्य।" "अपनी बहन का?" "नहीं, एक हिन्दू अबला की स्वतंत्रता-हरण का, मर्यादा-रहित पाप का।" "और तुममें वही शक्ति है?" "गुरु चरण की कृपा और महाराज की छत्रच्छाया में मैं उसे प्राप्त करूँगा।" "तुम्हारी तलवार में धार है?" "है।" "और तुम्हारी कलाई में उसे धारण करने की शक्ति?" "है।" "समय की प्रतीक्षा का धैर्य?" "प्रतीक्षा का धैर्य?" युवक ने अधीर होकर कहा। "हाँ, धैर्य?" महाराज ने कठोर स्वर में कहा।

युवक का मस्तक झुक गया और उसके नेत्रों से आँसुओं की धारा बह चली। उसने कहा—"महाराज, धैर्य तो नहीं है।" वह महाराज के चरणों में गिर गया। महाराज ने उठाकर उसे छाती से लगाया। वह संन्यासी की ओर देखकर हँस दिये। उन्होंने कहा—"गुरु की क्या आज्ञा है?" "ताना तैयार है, मैंने उसे गुरु-दीक्षा दे दी है।" फिर कहा—"वत्स!" युवक ने गुरु की ओर आँखें उठाईं। वे अब भी आँसुओं से तर थीं। "शांत हो, देखो, सदैव कर्त्तव्य समझ कर कार्य करना। फल की चिंतना न करना।" युवक चुप रहा। "यदि फल की आकांक्षा करोगे, तो धैर्य से च्युत हो जाओगे और कदाचित् कर्तव्य से भी।"

"प्रभो, मैं अपनी भूल समझ गया।" "जाओ पुत्र, महाराज की सेवा में रहो, विजयी बनो। भारत के दुर्भाग्य को नष्ट करो। नवीन जीवन, नवीन युग का प्रवर्तन करो। धर्म, नीति, मर्यादा और सामाजिक स्वातंत्र्य के लिये प्राण और शरीर एवं स्वार्थों का विसर्जन करो।"

युवक ने गुरु-चरणों में मस्तक नवाया। संन्यासी के नेत्रों में आँसू आ गये। उन्होंने कहा—"वत्स, जाओ, जाओ। संन्यासी को अधिक आप्यायित न करो। वीतराग संन्यासी किसी के नहीं।"

इसके बाद उन्होंने महाराज से एक संकेत किया। महाराज संन्यासी को अभिवादन कर घोड़े पर चढ़े। एक घोड़े पर युवक चढ़ा और धीरे-धीरे उस पर्वत-शृङ्ग से उतर चले।

संन्यासी शिला-खण्ड की भाँति अचल रहकर उन्हें देखते रहे, जब तक वे आँख से ओझल नहीं हो गये।

(३)

ग्राम में बड़ा कोलाहल था। बालक धूम मचा रहे थे और

विविध वस्त्र पहने स्त्री-पुरुष काम-काज में व्यस्त इधर से उधर दौड़-धूप कर रहे थे। तानाजी का विवाह था। द्वार पर नौबत झर रही थी। आगत जनों की काफी भीड़ थी।

संध्या होने में अभी विलंब था। एक श्रमित शिथिल साँड़नी-सवार ने नगर में प्रवेश किया। थोड़े से बालक कौतूहल-वश उसके पीछे हो लिये। ग्राम के चौराहे पर जाकर उसने अपनी बगल से छोटी-सी तुरही निकालकर फूँकी। देखते-देखते दस-बीस नर-नारी और बहुत से बालक एकत्र हो गये। सवार ने एक वृद्ध को लक्ष्य करके कहा—"मुझे तानाजी के मकान पर अभी पहुँचना है।"

तुरन्त दस-पाँच आदमी साथ हो लिये। सम्मुख ही तानाजी का घर था। वहाँ पहुँचकर उसने फिर तुरही बजाई। कोलाहल बन्द हो गया। सभी व्यग्र होकर आगंतुक को देखने लगे। उसने जरा उच्च स्वर से पुकारकर कहा—'छत्रपति शिवाजी महाराज की जय हो। मैं तानाजी के पास महाराज का अत्यावश्यक संदेश लेकर आया हूँ। अभी तानाजी से मुलाकात न होने से महाराज विपत्ति में पड़ेंगे।" उपस्थित जन-मंडल ने चिल्लाकर कहा—"छत्रपति महराज की जय।"

हल्दी से शरीर लपेटे, ब्याह का कँगना हाथ में बाँधे तानाजी बाहर निकल आये। धावन ने उन्हें पत्र दिया। पत्र पढ़कर तानाजी क्षण भर को विचलित हुए। इसके बाद ही उन्होंने अग्निमय नेत्रों से उपस्थित जन-समूह को देखा। वह उछलकर एक ऊँचे स्थान पर चढ़ गये और उन्होंने गम्भीर, उच्च स्वर से कहना प्रारम्भ किया—"सज्जनो! महावीर छत्रपति महाराज ने मुझे इसी क्षण बुलाया है। बीजापुर-शाह महाराज पर चढ़ दौड़े हैं, यह शरीर और प्राण महाराज का है। फिर बहन के प्रतिशोध का भी यही महायोग है। मैं इसी

क्षण जाऊँगा। आप लोग कल प्रातःकाल ही प्रस्थान करें। विवाह-समारोह अनिश्चित समय के लिए स्थगित किया गया।"

तानाजी बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये चीते की भाँति उछलकर कूद पड़े और घर में चले गये। कुछ ही क्षण बाद वह अपने प्यारे बर्छे और विशाल तलवार के साथ सज्जित होकर घोड़े पर सवार हुए। विवाह का आनन्द-समारोह स्तब्ध हो गया। पिता और गुरुजन को प्रणाम कर उन्होंने बढ़ते हुए सन्ध्या के अन्धकार में, डूबते हुए सूर्य को लक्ष्य कर, उन दुर्गम पर्वत-उपत्यकाओं में घोड़ा छोड़ दिया।

(४)

"महाराज की जय हो, मेरी एक बिनती है।" क्या कहते हो?" "बीजापुर की सेना परसों अवश्य ही दुर्ग पर आक्रमण करेगी।" "सो तो सुन चुका हूँ।" दुर्ग की पूरी मरम्मत नहीं हो पाई है, ऐसी दशा में वह आक्रमण न सह सकेगा।" "मालूम तो ऐसा ही होता है।" "परन्तु कल सन्ध्या तक दुर्ग बिलकुल सुरक्षित हो जायगा।" "यह तो अच्छी बात है।" "परन्तु महाराज, अपराध क्षमा हो।" "कहो।" "एक निवेदन है।" "क्या?" "अधिक नहीं, केवल एक-एक मुट्ठी चना मेरे सैनिकों और मजदूरों को मिल जाय, तो फिर वे कल सन्ध्या तक और कुछ नहीं चाहते।" "यह तो तुम जानते नी हो, वह मैं न दे सकूँगा।"

तानाजी चुप रहे। महाराज भी चुप हो गए। वह चंचल गति से इधर-उधर घूमने लगे।

एक प्रहरी ने सम्मुख आकर कहा—"महाराज, एक फिरंगी दुर्ग-द्वार पर उपस्थित है, दर्शनों की इच्छा करता है।" महाराज ने चकित होकर कहा—"फिरंगी? वह कहाँ से आया है?" "सूरत

से आ रहा है।" "साथ में कौन है?" "दो सवार हैं।" 'क्या चाहता है?' "महाराज से मुलाकात करना।"

क्षण भर महाराज ने कुछ सोचा, इसके बाद तानाजी को आज्ञा दी—"उसे महल के बाहरी कक्ष में ले आओ।" तानाजी ने "जो आज्ञा" कहकर प्रस्थान किया, और महाराज भी कुछ सोचते हुए महल की ओर चले गये। "तुम्हारा देश कौन है?" 'मैं फ्रांस देश का अधिवासी हूँ।" "क्या चाहते हो?" "महाराज, मैं कुछ हथियार बीजापुर के बादशाह के हाथ बेचने लाया था, परन्तु यहाँ आने पर आपकी यशोगाथा का विस्तार प्रजा में सुनकर इच्छा होती है, वे हथियार मैं आपको दे दूँ, यदि महाराज प्रसन्न हों। मेरे पास ५० छोटी विलायती तोपें, ५ हजार बन्दूकें और इतनी ही तलवारें हैं। सभी हथियार फ्रांस देश के बने हुए हैं। और भी युद्ध-सामग्री है।"

महाराज ने मंद हास्य से पूछा—'उनका मूल्य क्या है?" "महाराज को मैं यह सब १० लाख रु० में दे दूँगा, यद्यपि माल बहुत अधिक मूल्य का है।" महाराज की दृष्टि विचलित हुई। परन्तु उन्होंने दृढ़-गम्भीर स्वर से कहा—"मैं कल इसी समय इसका उत्तर दूँगा। अभी तुम विश्राम करो।"

फिरंगी चला गया। महाराज अत्यन्त चंचल गति से टहलने लगे। रात्रि का अंधकार आया। तानाजी मशालें लिये किले की मरम्मत में संलग्न थे। महाराज ने उन्हें बुलाकर कहा—'तानाजी, अब समय आ गया। अभी सारी सेना को तैयार होने का आदेश दे दो।" 'जो आज्ञा महाराज। कूच कहाँ करना होगा?" "इस फिरंगी का जहाज लूटना होगा।"

तानाजी आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगे। क्षणभर बाद बोले—"महाराज की जय हो। यह क्या आज्ञा दे रहे हैं?"

महाराज ने लपककर तानाजी की कलाई कसकर पकड़ ली। उन्होंने कहा—"युवक सेनापति! देखते हो, दुर्ग छिन्न-भिन्न और अरक्षित है। सेना के पास न शस्त्र, न घोड़े, और खजाने में इनको देने के लिए एक मुट्ठी चना भी नहीं। उधर विजयिनी यवन-सेना बीजापुर से धावा मारकर आ रही है। क्या मैं समय और उपाय रहते पिस मरूँ? ये हथियार भवानी ने मुझे दिये हैं। छोड़ूँगा कैसे? उस फिरंगी को कैद कर लो। उसको रुपया देकर मुक्ति कर दी जायगी। जाओ, सेना को अभी तैयार होने का आदेश दो। ठीक दो पहर रात्रि व्यतीत होते ही कूच होगा।" तानाजी कुछ कह न सके। वह सेना को आदेश देने चल दिये।

(५)

महाराज बैठे-बैठे ऊँघ रहे थे। पीछे दो शरीर-रक्षक चुपचाप खड़े थे। तानाजी ने सम्मुख आकर कहा—"महाराज की जय हो, कूच का समय हो गया है, सेना तैयार है।"

महाराज चौंककर उठ बैठे। वह चमत्कृत थे। उन्होंने कहा—"तानाजी?" "महाराज।" "मुझे भवानी ने स्वप्न में आदेश दिया है।" "वह कैसा आदेश है!" "यह सम्मुख मंदिर की पीठ दिखाई पड़ती है न?" "हाँ, महाराज।" "अभी मैं बैठे-बैठे सो गया, इसमें जो वह मोखा है, उसमें से एक रत्न-जटित गहनों से लदा हुआ हाथ निकलकर इसी स्थान की ओर संकेत करता है, मैंने स्पष्ट सुना, किसी ने कहा यहीं खोदो।" "महाराज की क्या आज्ञा है?" "भवानी का आदेश अवश्य पूरा होना चाहिए। उस स्थान को खुदवाओ।"

तत्काल चार बेलदारों ने खोदना प्रारम्भ किया। देखते-देखते बड़ा भारी गहरा गड्ढा हो गया। मिट्टी का ढेर लग गया। तानाजी

ने ऊबकर कहा—"महाराज, अब केवल एक प्रहर रात्रि रही है।" "ठहरो, क्या नीचे मिट्टी ही मिट्टी है ?" भीतर से एक बेलदार ने चिल्लाकर कहा—"महाराज ! पत्थर पर कुदाल लगा है।" महाराज ने व्यग्र स्वर में कहा—"सावधानी से खोदो।" "महाराज की जय हो ! नीचे पटिया है। उसमें एक लोहे का भारी कुंडा है।' "उसे बलपूर्वक उखाड़ लो।" "महाराज, नीचे सीढ़ियाँ प्रतीत होती हैं। प्रकाश आना चाहिए।

प्रकाश आया। तानाजी नंगी तलवार लेकर गड्ढे में कूद गये। दो और भी वीर कूद गये। महाराज विकलता से खड़े गम्भीर प्रतीक्षा करते रहे।

तानाजी ने बाहर आकर वस्त्रों की धूल झाड़ते हुए अपनी तलवार ऊँची की, और फिर तीन बार खूब जोर से कहा—'छत्रपति महाराज शिवाजी की जय।" निकट खड़ी सेना प्रलयगर्जन की भाँति चिल्ला उठी—"छत्रपति महाराज की जय !" इसके बाद तानाजी महाराज के निकट खड़े हो गये। महाराज ने पूछा—"भीतर क्या है ?" "भवानी का प्रसाद है।" "कितना है ?' "चालीस डेगें मुहरों की भरी रक्खी हैं। चाँदी के सिक्के भी इतने ही हैं। एक चाँदी की संदूकची में बहुत से रत्न हैं।"

महाराज एक बार प्रकंपित वाणी से चिल्ला उठे—"जय भवानी माता की !' एक बार फिर वज्र-गर्जन हुआ। इसके बाद महाराज ने तानाजी को आदेश दिया—"सेना को विश्राम की आज्ञा दी जाय और सब खजाना सुरक्षित रूप से निकालकर तोशाखाने में में दाखिल कर दिया जाय।'

(६)

नगर के गण्य-मान्य जौहरी बैठे थे। वहीं चाँदी की संदूकची

सम्मुख रक्खी थी। महाराज ने कहा—"इसका क्या मूल्य है ?" "महाराज, इसका मूल्य कूतना असम्भव है। यह मोतियों की माला ही अकेली दस लाख से कम मूल्य की नहीं।" महाराज ने उन्हें बिदा करके उस फ्रेंच को बुलाकर कहा—"क्या तुम इन रत्नों का कुछ मूल्य अंकित कर सकते हो ?" फिरंगी रत्नों की राशि देखकर दंग रह गया। उसने बड़े ध्यान से मोतियों की माला को देखकर कहा—"यदि महाराज की आज्ञा हो, तो मैं इस अकेली माला के बदले में अपने संपूर्ण हथियार दे सकता हूँ।" महाराज मुस्कराये। उन्होंने कहा—"उसे तुम रख लो, मेरे निकट वह कंकड़-पत्थर के समान है। वे सभी हथियार और सामग्री मुझे आज संध्या से पूर्व ही मिल जानी चाहिए।" "जो आज्ञा महाराज।" फिरंगी चला गया। चोबदार ने प्रवेश करके कहा—"महाराज की जय हो! एक चर सेवा में उपस्थित हुआ चाहता है ?" "उसे अभी भेज दो।" चर ने महाराज के चरणों में सिर झुकाया। "तुम हो महाभद्र।" महाराज की जय हो, सेवक इसी क्षण सुसमाचार निवेदन किया चाहता है।" "क्या समाचार है ?" "बीजापुर-शाह का खजाना इसी मार्ग से जा रहा है।" "कितना खजाना है ?" "पैंतीस खच्चर मुहरें हैं।" "सेना कितनी है !" "पाँच हजार।" "शेष सेना कहाँ है ?" "वह सिंहगढ़ में महाराज पर आक्रमण की तैयारी में सन्नद्ध है। खजाना पहुँचा, और आक्रमण हुआ।" "निश्चिंत रहो, खजाना वहाँ कभी न पहुँचेगा। जाओ, तानाजी को भेज दो। और, स्वयं यह पता लगाओ कि खजाना आज दो पहर रात तक कहाँ पहुँचेगा ?" 'जो आज्ञा' कहकर चर ने प्रस्थान किया। क्षण भर बाद तानाजी ने प्रवेश कर कहा—"महाराज की क्या आज्ञा है ?" "क्या वे हथियार सब मिल गये ?" "जी महाराज !" "तोपें कैसी हैं ?" "अत्युत्तम, वे सभी बुर्जियों पर चढ़ा दी गईं।"

"बंदूकें ?" "सब नई और उत्तम हैं। सब बंदूकें, बर्छे और तलवारें भी बाँट दी गई हैं।" "तुम्हारे पास कुल कितने घुड़सवार हैं ?" "सिर्फ पाँच सौ।" "शेष ?" "शेष सब अशिक्षित किसानों की भीड़ है। उन्हें शस्त्र अवश्य मिल गये हैं, परन्तु उन्हें चलाना कदाचित् वे नहीं जानते।" "बहुत ठीक, बीजापुर-शाह का खजाना सिंहगढ़ जा रहा है। वह अवश्य वहाँ न पहुँचकर यहाँ आना चाहिए। परन्तु उसके साथ पाँच हजार चुने हुए सवार हैं। तुम अभी पाँच सौ सैनिक लेकर उन पर धावा बोल दो।" "जो आज्ञा।" "परन्तु युद्ध न करना, जैसे बने, उन्हें आगे बढ़ने में बाधा देना।" "जो आज्ञा।" "मैं प्रभात होते-होते समस्त पैदल सेना-सहित तुमसे मिल जाऊँगा।" "जो आज्ञा।" तानाजी ने तत्काल कूच कर दिया।

(७)

दोपहरी की तीव्र सूर्य-किरणों में धूल उड़ती देखकर यवन-सैनिक सजग हो गये। उनके सरदार ने ललकारकर व्यूह-रचना की, और खच्चरों को खास इन्तजाम में रखकर मोर्चेबन्दी पर डट गये। कूच रोक दिया गया।

तानाजी धुआँधार बढ़े चले आ रहे थे। दोपहर होते-होते ही उन्होंने खजाना घर दबाया था। उन्होंने देखा, यवन-दल कूच रोककर, मोर्चा बाँधकर युद्ध-सन्नद्ध हो गया है। तानाजी ने भी आक्रमण रोककर वहाँ मोर्चा जमा दिया। यवन-दल ने देखा—शत्रु जो धावा बोलता हुआ पीछा कर रहा था, आक्रमण न करके वहीं मोर्चा बाँधकर रुक गया है। इसके क्या माने ? यवन-सेनापति ने स्वयं आक्रमण कर दिया।

यवन-सेना को लौटकर धावा करते देख तानाजी ने शीघ्रता

से पीछे हटना प्रारम्भ कर दिया। दो-तीन मील तक पीछा करने पर भी जब शत्रु भागता ही चला गया, तब यवन-सेनापति ने आक्रमण रोककर, सेना की श्रृंखला बना फिर कूच कर दिया।

परन्तु यह देखते ही तानाजी फिर लौटकर यवन-सेना का पीछा करने लगे। यवन-सेनापति ने यह देखा। उसने सोचा, डाकू घात लगाने की चिन्ता में हैं। उसने क्रुद्ध होकर फिर एक बार धावा किया, पर तानाजी फिर लौटकर भाग चले।

संध्या-काल हो गया। यवन-सेनापति ने खीझकर कहा—"ये पहाड़ी चूहे न लड़ते हैं और न भागते हैं, अवश्य अन्य सेना की प्रतीक्षा में हैं। साथ ही कम भी हैं।" अतः उसने व्यवस्था की कि तीन हजार सेना के साथ खजाना आगे बढ़े, और दो हजार सेना लेकर इन डाकुओं को यहाँ रोके रहे। इस व्यवस्था से आधी सेना के साथ खजाना आगे बढ़ गया। शेष दो हजार सैनिकों ने वेग से तानाजी पर आक्रमण किया। तानाजी बड़ी फुर्ती से पीछे हटने लगे। धीरे-धीरे अन्धकार हो गया। यवन-दल लौट गया। परन्तु चतुर तानाजी समझ गये कि खजाना आगे बढ़ गया है। वह उपाय सोचने लगे। एक सिपाही ने घोड़े से उत्तरकर तानाजी की रकाब पकड़ी। तानाजी ने कहा—'क्या है?' "आप जो सोच रहे हैं, उसका उपाय मैं जानता हूँ।" "क्या उपाय है?' "यहाँ से बीस कोस पर एक गाँव है।" "फिर?" 'वहाँ मेरे बहुत सम्बन्धी हैं।" "अच्छा।"

'उस गाँव के पास एक घाटी है, जिसके दोनों ओर दुरूह, ऊँचे पर्वत हैं, और बीच में सिर्फ दो सवारों के गुजरने योग्य जगह है। यह घाटी लगभग पौन मील लंबी है।" तानाजी ने विचलित होकर कहा—"तुम चाहते क्या हो?" 'यवन-सेना वहाँ प्रातःकाल

पहुँचेगी।" "अच्छा फिर ?' 'मैं एक मार्ग जानता हूँ, जिससे मैं पहर रात्रि गये वहाँ पहुँच सकता हूँ। श्रीमान्, मुझे केवल पचास सवार दीजिये। मैं गाँववालों को मिला लूँगा और घाटी का द्वार रोक लूँगा। यवन-दल रक्षा की धारणा से तुरन्त घाटी में प्रवेश करेगा। पीछे से आप घाटी के मुख को रोक लीजिये। शत्रु चूहेदानी में मूसे के समान फँस जायँगे।"

तानाजी गम्भीरता-पूर्वक सोचने लगे। अंत में उन्होंने कहा—"मैं तुम्हारी तजवीज पसंद करता हूँ। पचास सैनिक चुन लो।" सिपाही ने पचास सैनिक चुनकर चुपचाप खेत की पगडंडी का रास्ता लिया। तानाजी ने यवन-दल पर फिर आक्रमण करने की तैयारी की।

(८)

स्तब्ध रात्रि के सन्नाटे को चीरकर तुरही का शब्द हुआ। सोये हुए ग्राम-वासी हड़बड़ाकर उठ बैठे। देखा, ग्राम के बाहर थोड़े-से घुड़सवार खड़े हैं। गाँव के पटेल ने भयभीत होकर पूछा—'तुम लोग कौन हो और क्या चाहते हो ?' सैनिकों ने चिल्लाकर कहा—"हिंदू-धर्म-रक्षक छत्रपति महाराज शिवाजी की जय !' गाँव के निवासी भी चिल्ला उठे—'जय, महाराज शिवाजी की जय !" एक सवार तीर की भाँति दौड़कर ग्राम-वासियों के निकट आया। उसने कहा—"सावधान रहो, छत्रपति महाराज शिवाजी ने हिंदू-धर्म के उद्धार का बीड़ा उठाया है, वह साक्षात् शिव के अवतार हैं। आज सूर्योदय होते ही तुम्हें उनके दर्शन होंगे।" यह सुनते ही ग्राम-वासी चिल्ला उठे—"महाराज शिवाजी की जय !" "पर सुनो, आज इस गाँव की परीक्षा है। भाइयो, यवन-सेना इधर को आ रही है। आज इसी गाँव में उसका अंत होगा और वीरता का सेहरा इस गाँव के नाम बँधेगा।" ग्राम-वासियों ने उत्साह से कहा—"हम तैयार हैं,

हम प्राण देंगे।" "भाइयो, हमारी विजय होगी। प्राण देने की आवश्यकता नहीं। अभी दो प्रहर का समय हमें है। आओ, घाटी के उस पर का द्वार वृक्षों और पत्थरों से बन्द कर दें और सब लोग पर्वतों पर चढ़कर छिप बैठें। बड़े-बड़े पत्थर इकट्ठे रक्खें, ज्यों ही यवन-दल घाटी में घुसे, देखते रहो। जब सब सेना घाटी में पहुँच जाय, ऊपर से पत्थरों की भारी मार करो। पीछे के मार्ग को महाराज शिवाजी स्वयं रोकेंगे।" समस्त गाँव 'जय शिवाजी महाराज' कहकर कार्य में जुट गया।

प्रातःकाल होने से पूर्व ही यवन-दल तेजी से घाटी में घुसा। तानाजी पीछे धावा मारते आ रहे हैं, यह वे जानते थे। घाटी पार करने पर वे सुरक्षित रहेंगे, इसका उन्हें विश्वास था। परन्तु एक-बारगी ही आगे बढ़ती हुई सेना की गति रुक गई। बड़ी गड़बड़ी फैली। कहाँ क्या हुआ, यह किसी ने नहीं जाना। परन्तु घाटी का द्वार भारी-भारी पत्थरों और बड़े-बड़े वृक्षों को काटकर बन्द कर दिया गया था। उसके बाहर खड़े ग्राम-वासी और सवार दरारों के द्वारा तीर छोड़ रहे थे।

सारी यवन-सेना में गड़बड़ी फैल गई। यवन-सेनापति ने पीछे लौटने की आज्ञा दी, परन्तु अरे! यहाँ तानाजी की सेना मुस्तैदी से खड़ी तीर फेंक रही थी। अब एक और भारी विपत्ति आई। ऊपर से अगणित बाणों की वर्षा होने लगी और भारी-भारी पत्थर लुढ़कने लगे। घोड़े, खच्चर, सिपाही सभी चकनाचूर होने लगे। भयानक चीत्कार मच गया। मुहाने पर दो-चार सिपाही आकर युद्ध करके कट गिरते थे। लाशों का ढेर हो रहा था।

यवन-सेनापति ने देखा, प्राण बचने का कोई मार्ग नहीं है। सहस्रों सिपाही मर चुके थे। जो थे, वे क्षण-क्षण पर मर रहे थे।

उसने तानाजी से कहला भेजा, खजाना ले लीजिए और हमारी जान बख्श दीजिए।

तानाजी ने हँसकर कहा—"जान बख्श दी जायगी, पर खजाना, हथियार और घोड़े, तीनों चीजें देना होगा।" विवश यही किया गया।

एक-एक मुगल सिपाही आता, घोड़ा और हथियार रखकर एक ओर चल देता। ग्रामवासियों ने मार बन्द कर दी थी। बहुत कम यवन-सैनिक प्राण बचा सके। घोड़े, शस्त्र और खजाना तानाजी ने कब्जे में कर लिया। सूर्य की लाल-लाल किरणें पूर्व में उदय हुईं। तानाजी ने देखा, दूर से गर्द का पर्वत उड़ा आता है। उन्होंने सभी ग्रामवासियों को एकत्र करके कहा—"सावधान रहो, महाराज आ गये हैं।"

महाराज ने घोड़े से उतरकर तानाजी को गले से लगा लिया। ग्रामवासियों ने महाराज की पूजा की और लूटा हुआ सभी माल लेकर शिवाजी अपने किले में लौटे। इस प्रकार संयोग, प्रारब्ध और उद्योग ने सोलह पहर के अंतर में ही असहाय महाराज शिवाजी को सर्व-साधन-सम्पन्न बना दिया, जिसके बल पर वह अपना महाराज्य कायम कर सके।

(६)

स्तब्ध रात्रि के सन्नाटे में सैनिकों का प्रशांत दल चुपचाप आगे बढ़ा जा रहा था। सकरी पगडंडी के दोनों ओर ऊँचे-ऊँचे सरकंडे के झाड़ खड़े थे। तारों के क्षीण प्रकाश में घोड़ों को कष्ट होता था, पर सेना की अबाध गति जारी थी।

हठात् सैनिक रुक गये। अग्रगामी सैनिक ने पंक्ति से पीछे हटकर कहा—"श्रीमान्, बस यही स्थान है।" "आगे रास्ता नहीं?"

"नहीं श्रीमान्।" "तब यहाँ से क्या उपाय किया जाय ?" "इस ढालू चट्टान पर चढ़ना होगा।" "यह बहुत कठिन है।" "परन्तु दूसरा उपाय ही नहीं है।" "तब चढ़ो।" सेना-नायक चट्टान को दोनों हाथों से दृढ़ता से पकड़कर खड़ा हो गया।

देखते-देखते दूसरा सैनिक छलाँग मारकर चट्टान पर हो रहा और सेना-नायक को खींच लिया। उस बीहड़ और सीधी खड़ी चट्टान पर धीरे-धीरे ये हठी सैनिक उस दुर्भेद्य अंधकार में चढ़ने लगे। दुर्ग-प्राचीर के निकट आकर नायक ने कहा—"अब रस्सियाँ चाहिये।"

"रस्सियाँ उपस्थित हैं।"

रस्सियों को फेंककर प्राचीर के कँगूरे में अटका दिया गया और क्षण-भर में नायक प्राचीर पर चढ़कर लेट गया। इसके बाद दूसरा और फिर तीसरा। इस प्रकार बारह सैनिक दुर्ग-प्राचीर पर चढ़कर, अवशिष्ट सैनिकों को समुचित आदेश देकर नीचे उतर गये। दुर्ग में सन्नाटा था। सब चुपचाप दीवारों की छाया में छिपते हुए फाटक की ओर बढ़ रहे थे। फाटक पर प्रहरी असावधान थे। एक ने सजग होकर पुकारा—"कौन ?"

दूसरे ही क्षण एक तलवार का भरपूर हाथ उस पर पड़ा। सभी प्रहरी सजग होकर आक्रमण करने लगे। देखते-ही-देखते किले में कोलाहल मच गया। जगह-जगह योद्धा शस्त्र बाँधने और चिल्लाने लगे। मसालों के प्रकाश में इधर-उधर घूमने लगे।

बारहो व्यक्ति चारों ओर से घिर गये। परन्तु वे भीम वेग से फाटक की ओर बढ़ रहे थे। प्रहरी मन में भयभीत थे। तानाजी ने एक बार प्रचंड जय-घोष किया और उछलकर फाटक पर चढ़ बैठे। बारहों साथियों ने शत्रु-दल को तलवार के बल चीर डाला और तानाजी ने साहस करके फाटक खोल दिया।

'हर-हर महादेव' करती हुई महाराष्ट्र-सेना घुस पड़ी। बड़ा भारी घमासान मच गया। रुंड-मुंड डोलने लगे। घोड़ों की चीत्कार, योद्धाओं की ललकार और तलवारों की झनकार ने भयानक दृश्य उपस्थित कर दिया।

तानाजी ने ललकार कर कहा—"किधर है यवन-सेनापति, जो मर्द की भाँति युद्ध करे।" यवन-सेनापति ने जोर से कहा—"काफिर, मैं यहाँ हूँ। सामने आ, गरीब सिपाहियों को क्यों हटाता है?" तानाजी उछलकर सेनापति के सम्मुख गये। दोनों में घमासान युद्ध होने लगा। दोनों तलवार-धनी थे। मसालों के धुँधले प्रकाश में दोनों योद्धाओं का असाधारण युद्ध देखने को सेना स्तब्ध खड़ी हो गई। तानाजी ने कहा—"सेनापति पहले तुम वार करो, आज मैं तुम्हें मारूँगा।" "काफिर, अभी तेरे टुकड़े किए डालता हूँ।" उसने तलवार का भरपूर वार किया। "अरे आज बहुत दिन की साध पूरी होगी।" बदले में तलवार का जनेवा हाथ फेंकते हुए तानाजी ने कहा—"लो।" सेनापति के मोढ़े पर तलवार लगी और रक्त की धार बहने लगी। उसने तड़पकर एक हाथ तानाजी की जाँघ में मारा। जाँघ कट गई। तानाजी ने गिरते-गिरते एक बर्छा सेनापति की छाती में पार कर दिया। दोनों वीर घोड़े से गिर पड़े।

अब सेना में घमासान मच गया। उदयभानु की राजपूत-सेना और यवन-सेना परास्त हुई। सूर्योदय से पूर्व ही किले पर भगवा झंडा फहराने लगा।

लाशों के ढेर में से तानाजी का शरीर निकाला गया। अभी तक उसमें प्राण था। थोड़े उपचार से होश में आकर उन्होंने कहा—"क्या किला फतह हो गया?" "हाँ महाराज।" "यवन-सेनापति क्या जीवित है?" यवन-सेनापति भी जीवित था। उसका

शरीर भी वहीं था। तानाजी ने चीण स्वर में पुकारा—"सेनापति !" "काफिर ?" "पहचानते हो ?" "दुश्मन को पहचानना क्या ? तुम कौन हो ?" "पन्द्रह वर्ष प्रथम जिसे आक्रांत करके तुमने उसकी बहन का हरण किया था।" सेनापति उत्तेजना के मारे खड़ा हो गया। फिर धड़ाम से गिर गया, उसके मुख से निकला—"तानाजी ?" "आज बहन का बदला मिल गया।" यवन-सेनापति मर रहा था। उसका श्वास ऊर्ध्वगत हो रहा था और आँखें पथरा रही थीं। उसने टूटते स्वर में कहा —"तुम्हारी बहन और बच्चे इसी किले में हैं, उनकी हिफाजत............।

यवन-सेनापति मर गया। तानाजी की दशा भी अच्छी नहीं थी, ये शब्द मानो वह सुन नहीं सके। उन्होंने टूटते स्वर में कहा—"महाराज से कहना, तानाजी ने जीवन सफल कर लिया। महाराज बहन की रचा करें।"

तानाजी ने अंतिम श्वास समाप्त की।

(१०)

शुभ मुहूर्त्त में छत्रपति महाराज ने सिंहगढ़ में प्रवेश किया।

प्रांगण में विषण्ण-वदन सैनिक नीची गर्दन किये खड़े थे। घोड़े से उतरते हुए शिवाजी ने कहा—"मेरा मित्र तानाजी कहाँ है ?"

एक अधिकारी ने गंभीर मुद्रा से कहा—"वह वीर वहाँ बरामदे में श्रीमान् की अभ्यर्थना को बैठे हैं।"

अधिकारी रोता हुआ पीछे हट गया। महाराज ने पैदल आगे कर देखा।

यह निश्चल मूर्त्ति सैकड़ों घाव छाती और शरीर पर खाकर वीरासन से विराजमान थी। महाराज की आँखों से टपाटप आँसू गिरने लगे। उन्होंने शोक-कंपित स्वर में कहा—"सिंहगढ़ आया, पर सिंह गया।"

——

मसूरीवाली

['बेढब' बनारसी]

वह मसूरी से आई थी। रंगत तो चंपक के समान थी, मगर कुछ-कुछ श्यामता लिये। वह ऐसी नहीं मालूम होती थी कि पहाड़ों के आँगन में खेलकर, पवन के झूले पर झूलकर ऊषा की किरणों में स्नान करके बढ़ी है, प्रौढ़ हुई है; बल्कि ऐसा मालूम पड़ता था कि किसी ने साँचे में उसे ढाल दिया है। सिर से, पाँव से बिल्कुल सुडौल, पतली और लचक तो ऐसी थी कि सौ-सौ क्या, हजार-हजार बल खाती थी।

पहले-पहल उसे मैंने अपने मित्र के कमरे में देखा। हाल में ही वह मसूरी से लौटे थे। संध्या का समय था। मैं उनके कमरे में बैठा था। बिजली के प्रकाश में कमरा स्नान कर रहा था। बाहर पानी आषाढ़ का संदेश सुन रहा था। बिजली के लट्टू से पतिंगे कोर्टशिप कर रहे थे। वह किवाड़ के पास दीवार के सहारे खड़ी थी। बिजली के प्रकाश में उसका सौंदर्य और भी चित्त को चुरानेवाला बन रहा था। मेरी निगाह उस पर पड़ी। आँख ही तो है! तबीअत ललचा

उठी। मित्र की ओर देखा, फिर उस ओर........बात उनसे करता था, दिल और कुछ सोच रहा था। निगाह और कहीं थी। पराई चीज पर नजर डालना भलेमानुस का काम नहीं है। हृदय को धिक्कार रहा था, फिर एक बार मन हुआ कि उसे उठा ले जाऊँ। फिर सोचा किसी के घर आकर ऐसी धारणा! गीता, शुक्रनीति, भर्तृहरि नीति-शतक के कितने ही श्लोक खोपड़ी में हवाईजहाज की भाँति मँड़राने लगे। मैंने मन में समझा मैं कितना बड़ा पापी हूँ। ऐसी कुभावनायें क्यों हृदय में पैठ जाती हैं? अँगरेजी कविता पढ़ने का प्रभाव है, कि उस जन्म का फल है, या कीट्स की 'एथिंग आव ब्यूटी इज़ ए ज्वाय फ़ार एवर' पढ़ने का कारण है; कि सत्यम् शिवम् सुन्दरम् का संस्कार अपनी प्रबलता दिखा रहा है, अथवा हृदय की रसिकता का फल है! सदाचार और सहृदयता में जंग थी।

परंतु आँख तो बड़ी ही बे-कही होती है। संयम इसमें है नहीं। अनुशासन भंग करना इसका स्वभाव है, मगर बुजदिली बला की, सामने देखने से झिझकती है। कनखियों से काम चलाती है। बेड़े, तिरछे, टेढ़े चलना इसका स्वभाव है। इसी में इसे मजा मिलता है, रस मिलता है, मेरी आँख कुछ अपवाद नहीं थी! बात कर रहा था, मेरी निगाह मेरे मित्र की ओर थी। बात ही बात में तबीअत जरा न मानी या यों कहिये आँखों ने चंचलता न छोड़ी, निगाह बचा कनखियों से जरा उस ओर भी देख लिया। एक सेकेंड की बात थी। मैंने उधर देखा, मेरे मित्र ने मेरी ओर देखा, मैंने मित्र की ओर देखा, मेरी देखा-देखी मेरे मित्र ने देख ली।

उन्होंने मुसकरा दिया। मेरा चेहरा लज्जा से लाल हो गया। यह मैं जानता था कि वह मुझसे कुछ छिपाते नहीं, छिपाना होता तो मेरे आने के पहले उसे हटा देते, फिर भी दिल में एक चोर था।

आँखें फिर भी मुँहजोर तुरंग के समान उधर खींचती थीं, मैं इधर-उधर की बातें करके विषय बदल देना चाहता था। अभी मेरे मित्र के मुख पर से मुसकराहट की रेखा विलीन नहीं हुई थी, मालूम होता था कि उनका हृदय खिलखिला रहा है जिसकी छाया उनके चेहरे पर प्रतिबिंबित हो रही थी। उन्होंने गर्दन घुमाकर उस ओर देखा, मानो मेरा उपहास करने के लिए! फिर मेरी ओर देखा। बोले—"कहिये क्या देख रहे हैं?"

इसका उत्तर क्या दिया जा सकता है, जरा लोग विचार करें। अगर मुझसे पूछा जाता कि मिस्टर जिन्ना कितने बटेर का शोरबा पीते हैं या मौलाना फजलुलहक की कोसने की कला कितनी ऊँची है, तो मैं जवाब दे देता; मगर इसका उत्तर....। मैं जानता था कि क्या देख रहा हूँ। फिर भी कह नहीं सकता था। क्या ख्याल हो, क्या नतीजा मेरे जवाब का निकाला जाय! स्वभाव मेरा सदा से संकोची रहा। मैं कुछ कहने ही वाला था कि वह बोल उठे, उसे घर ले जाओगे। मेरा दिल दौड़कर गले में आ गया, एक हृदय की इच्छा थी जिसे मैं मुखरित नहीं कर सकता था, परंतु कामना की लता लहलहा उठी, वह उठे और उसे लाकर मेरे हाथ में सुपुर्द कर दिया। वह बड़ी मनोहर मसूरी की छड़ी थी।

आँखों की थाह

[राय कृष्णदास]

(१)

उन आँखों की थाह लेना क्या किसी के लिए सम्भव था? उनकी चमकदार और बहुत ही गहरी-काली पुतलियों से टकराकर पैनी से पैनी दृष्टि को भी निराश लौटना पड़ता। कोई जान ही न पाता कि प्रोफेसर की पत्नी के मन में क्या है। उलटे स्वयं थाह लेने का इच्छुक चकरा उठता, मानो उसका मस्तक किसी पोढ़ी भीत से टकरा गया हो। किन्तु जहाँ आँखों का यह हाल था, वहाँ उस स्त्री के खुले स्वभाव से कभी किसी को आशंका ही न हो सकती थी कि पुतलियों की उस अभेद्य कालिमा के भीतर कोई रहस्य छिपा होगा।

आश्चर्य तो इस बात का है कि जहाँ सुखमा और उसके पति प्रोफेसर देवेन्द्रनाथ का वैवाहिक जीवन हर तरह सफल दीख पड़ता था, वहाँ जिन दिनों की बात हम कह रहे हैं, उन दिनों सुखमा से जो भी कुछ देर बातें करता था, उसे देखता था, वह इस बात का अनुभव किये बिना नहीं रह सकता था कि उसके चेहरे पर कभी-कभी विषाद की एक तीव्र रेखा दौड़ जाया करती है। इतना ही नहीं, उसके आकर्षक वार्तालाप में भी एक अदृश्य आह का अनुभव किया जा सकता था।

देवेन्द्रनाथ और सुखमा का विवाह काफी दिनों के सहाध्ययन और घनिष्ट मैत्री के बाद हुआ था। कालेज के दिनों में जब लोग उन दोनों को इलाहाबाद की सिविल लाइनवाली लम्बी-लम्बी सड़कों पर संग टहलते देखते, तो सभी एक मुँह से कहा करते कि सहपाठी और पहपाठिनी में ऐसी मित्रता भी सम्भव है, जिसमें 'सेक्स' की बू-बास न हो। उन दोनों ने स्वयं ही न जाना कि किस दिन उनका परिचय

मित्रता में, फिर प्रेम में, फिर आत्मीयता में परिणत हो गया। हाँ, दुनिया ने और स्वयं उन्होंने भी एक दिन यह अवश्य देखा कि इस विकास के परिणाम-स्वरूप वे दोनों विवाह-बंधन में बँधकर एक हो गये।

बंधन कहने से हमारा यह तात्पर्य नहीं कि विवाह उनके लिए बंधन-स्वरूप था। बात इसके बिलकुल विपरीत थी और इस जोड़े का सौमनस्य देखकर कितनों ही को डाह होता था। इस प्रकार इस दो प्राणियोंवाले कुटुम्ब का एक अलग संसार था जिसमें नित्य उत्सव और नित्य वसंत ओत-प्रोत था।

प्रोफेसर साहब का रहन-सहन मिला-जुला देशी-विदेशी था, जैसा कि आजकल के अधिकांश प्रोफेसरों का होता है। उनकी संध्यायें इष्ट-मित्रों के यहाँ जाने-बुलाने, टेनिस वा सिनेमा में बीततीं और सुखमा का इनमें सहयोग रहता। सुखमा का व्यक्तित्व इतना मधुर और आकर्षक था कि अनायास लोग मुग्ध हो जाते। किन्तु जहाँ यह था, वहाँ उसमें एक मर्यादा भी थी। देवेन्द्रनाथ का मित्र-वर्ग भली भाँति जानता था कि निश्चित सीमा के आगे वह एक पग भी नहीं बढ़ सकता, सुखमा भले ही उसके प्रति कितनी ही उन्मुक्त क्यों न हो।

देवेन्द्रनाथ और सुखमा ने एक ही विषय की डिग्रियाँ ली थीं। कालेज के दिनों में सुखमा बहुत ही अध्ययन और मननशील थी और यदि प्रोफेसर साहब के मन में यह आशा थी कि वैवाहिक जीवन में सुखमा उनके डाक्टरेट के लिए खोज में हाथ बँटावेगी तो वह सर्वथा स्वाभाविक थी। किन्तु कौटुम्बिक जीवन के आरम्भ होते ही सुखमा की वह अध्ययन-मनन-शीलता तिरोहित हो गई और रज-गज संध्याओं के बाद जब देवेन्द्रनाथ अपने पठनागार में बैठकर, अपने खोज के काम में प्रवृत्त होते तो सुखमा एक मिनट के लिए भी उनका

साथ न देती, यद्यपि उसे ड्राइंगरूप में अकेले बैठना बहुत ही खलता और रेडियो, इसराज और व्यस्त-शब्द-पहेलियाँ उसके लिए तनिक भी मनोरंजन की सामग्री न बन पातीं। यहाँ तक कि कुछ ही देर में अँगड़ाई और जँभाई लेती हुई वह खाट पर जा पड़ती।

उधर देवेन्द्रनाथ भी, यद्यपि वह किसी भी रात बारह से पहले न सोते और कभी-कभी दो बज जाता, अपने खोज के काम में भरमा ही करते और उन्हें ऐसा लगता—वास्तव में बात भी ऐसी ही थी—कि वे किसी निश्चित परिणाम पर पहुँच ही नहीं पाते। दोनों ही एक दूसरे की सन्निकटता के अभाव से छटपटाते रहते, किन्तु दोनों ही अपने जीवन का क्रम बदलने के लिए तैयार न जान पड़ते। थोड़े दिनों में यह अभाव एक नित्य की बात बन गया और दोनों का सूनापन कुण्ठित हो चला। अब उन लोगों में इस विषय की बातचीत भी न होती क्योंकि उनके जीवन के शेष घण्टे काफी सुखी, एवं भरे-पूरे बीतते और इसी सफलता के कारण मानो वे अपने उस अभाव को अभाव मानने के लिए तैयार न थे। अतएव इतना हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि सुखमा के मुखड़े पर वेदना की जिस तीव्र रेखा की वा उसकी बातचीत में जिस अदृश्य आह की चर्चा हम ऊपर कर आये हैं, उसका इस अभाव से कोई सम्बन्ध न था। वस्तुतः जिन दिनों इस अभाव का आविर्भाव हुआ था, वह सुखमा को सचमुच खलता था। उन दिनों तो उसकी बात वा उसकी आकृति में विषाद की झलक तक न थी। विषाद के बदले पति पर प्रत्यक्ष और परोक्ष क्रोध द्वारा वह अपने हृदय के फफोले फोड़ लिया करती।

(२)

इस विषाद का कारण जानने के लिए, जिस समय की चर्चा की जा रही है, उसके थोड़ा पीछे मुड़ना पड़ेगा।

सुखमा को प्रतिदिन संध्या बीतने पर ऊबना पड़ता हो, सो नहीं। सप्ताह में एक-आध दिन ऐसे मित्र वा उनकी स्त्रियाँ आ जातीं जिनके साथ घण्टे दो घण्टे गपशप में बीत जाते। कभी-कभी यह दम्पति मित्रों को भोजन के लिए आमन्त्रित करती। उस दिन तो देवेन्द्रनाथ भी अपना खोज का काम छोड़कर भोजन के उपरान्त गोल-कमरे में बैठकर वार्ता-विनोद किया करते थे।

इस बीच में प्रोफेसर के पुराने सहपाठी उनके नगर में डिप्टी कलक्टर हो आये। इन श्रीकान्त का देवेन्द्रनाथ से स्कूल की छठी कक्षा से लेकर कालेज के पहले दो वर्षों तक निरन्तर साथ था। काफी घनिष्टता थी, भाईचारा समझिए। इसके बाद श्रीकान्त दूसरे कालेज में चले गये। वहाँ से डिग्री लेकर वह डिप्टी कलक्टर हो गये और धीरे-धीरे घनिष्टता पर समय तथा दूरी का पटाक्षेप हो गया। किन्तु उनके यहाँ आते ही पुराना भाईचारा ज्यों का त्यों स्थापित हो गया, बल्कि निखर उठा।

डिप्टी साहब अवस्था में देवेन्द्रनाथ से कुछ छोटे थे अतएव सुखमा उनकी भाभी हुई। देवर-भाभी का यह नाता, भाई-भाई के नाते से भी अनुदिन बढ़ता जा रहा था, क्योंकि डिप्टी साहब कचहरी और हाकिमों के क्लब से छुट्टी पाकर शाम को यहीं आ डटते और कहीं ग्यारह-बारह बजे रात नौकरों को गालियाँ देने तथा स्त्री को पीटने के लिए घर लौटते।

उनका जितना समय प्रोफेसर साहब के यहाँ बीतता उसमें देवर-भौजाई घुल-घुलकर बातें किया करते। कभी दोनों ठठाकर हँसते, कभी बहस करते, कभी आनन्द से उत्तेजित होकर बड़ी उमंग से ऊँचे स्वर में बोलने लगते और कभी झगड़ उठते। देवेन्द्रनाथ कभी-कभी एक-आध मिनट के लिए उन लोगों के पास आ जाते, प्रायः यही

कहने के लिए—"अरे श्री ! तुम अभी तक बैठे ही हो ?" या "तुम लोगों ने तो बड़ा हल्ला मचा रक्खा है।"

प्रोफेसर साहब का बेयरा बाहर बरामदे में बैठा-बैठा कुढ़ा करता। उसे प्याले पर प्याला चाय पहुँचानी पड़ती। बीच-बीच में जो अवकाश मिलता, उसमें वह तथा प्रोफेसर साहब का खाना बनाने वाला इस अन्तरंगता की कटु आलोचना किया करते और मनमाना अर्थ लगाते रहते और ऊँघा करते।

सात महीने डिप्टी साहब वहाँ रहे और इस बीच देवर-भौजाई की घनिष्टता इतनी बढ़ी कि वह नौकर-चाकरों की ही नहीं, नगर भर की आलोचना और डिप्टी साहब के यहाँ गृह-कलह का विषय ही नहीं बन गई, संभवतः उनकी बदली का कारण भी हुई। सिनेमा, थियेटर, उत्सव, पार्टी, जहाँ देखिए, दोनों एक साथ। कभी-कभी वे दोनों इधर-उधर सैल वा गोंठ करने भी जाया करते, किन्तु इन अवसरों पर देवेन्द्रनाथ को खींच ले जाना वे न भूलते।

ऐसा नहीं कि नगर और नौकरों की कानाफूसी की गूँज देवेन्द्रनाथ के कानों तक न पहुँची हो, किन्तु वे श्रीकान्त और सुखमा की घनिष्टता में कोई अवांछनीयता न पाते, फलतः वह ऐसी बेतुकी बात की तनिक भी परवाह न करते, उलटे कभी-कभी दोनों मित्र और सुखमा इसकी हँसी उड़ाया करते।

किन्तु, बिदा के दिन श्रीकान्त सुखमा से यह कहे बिना न रह सके—"भाभी, अच्छा ही हुआ जो यहाँ से जा रहा हूँ। मुझे अपनी तो कोई चिन्ता न थी, किन्तु इस चिराँध में तुम्हारा नाम भी बसा था, वह मेरे लिए असह्य था।"

'तुम्हें तो मैं पुरुष समझा करता था, किन्तु आज पता चला

कि तुम कुछ और हो, श्री !''—देवेन्द्रनाथ ने हँसी उड़ाते हुए कहा—"भला ऐसी बातों पर कौन कान देता है ?''

"कान तो हमारे बड़े साहब (कलक्टर) तक ने दिया, फिर औरों की क्या गिनती।''—श्रीकान्त ने, मुँह बिचकाकर कहा।

''आखिर तो डिप्टी हैं न ? बड़े साहब जो कुछ करें वही तुम्हारे लिए सब कुछ। यही तो तुम लोगों की इनफिरियार्टी कंप्लेक्स है।''

''वे लोग समझते हैं कि भारतीयों में चारित्र्य कहाँ ? इसी से जो मन में आता है, राय बना लेते हैं।'' देवेन्द्र ने कहा—

"जी, क्यों हम लोग ऐसी बातों में माथापच्ची करें''—सुखमा ने दृढ़तापूर्वक कहा और प्रस्ताव किया—'अभी खाने में देर है, तब तक हम लोग कहीं घूम-घाम आवें।'

सुखमा के इस प्रस्ताव को दोनों मित्रों ने स्वीकार किया और मोटर में एक लम्बा चक्कर लगाकर लौट के इन लोगों ने भोजन किया, फिर कुछ देर गपशप करते रहे। श्रीकान्त की गाड़ी रात साढ़े ग्यारह बजे जाती थी। उसमें उन्हें सवार कराके भारी हृदय से दम्पति घर लौट आये।

(३)

दो-चार दिन प्रोफेसर साहब को श्रीकान्त का बिछोह खला, उपरान्त अपने दैनिक कार्यक्रम में वह उन्हें भूल-सा गये। जब तक याद बनी थी तब तक वह सुखमा से अकसर उनकी चर्चा किया करते "यह श्रीकान्त के आने का समय था, श्रीकान्त होते तो इस समय ऐसा उत्तर देते'', ''आज श्रीकान्त होते तो तुम्हें सिनेमा के नये प्रोग्राम में ले गये होते', इत्यादि। किन्तु विस्मृति के साथ-साथ इस तरह की बातों का सिलसिला भी छीजता गया। किन्तु यह परिस्थिति सुखमा को खलने लगी। उसकी इच्छा होती कि वैसी बातों का सिलसिला बरा-

बर बना रहे। अभाव में वह अकेली ही बीते दिनों की बातें सोचा करती, सदैव अतीत की सृष्टि में विचरण किया करती, कभी कल्पना के दृश्य बनाया करती, जिसमें मुख्य अभिनेता होते श्रीकान्त—वह श्रीकान्त की प्रतीक्षा में कपड़े पहने बैठी है, समय बीत रहा है किन्तु अभी तक वह आये नहीं, प्रत्याशा में उसका हृदय धड़क रहा है और उनके न आने की आशंका से जी छोटा हुआ जा रहा है कि डिप्टी साहब धड़धड़ाते हुये आ पहुँचते हैं। अपने उन्मुक्त साहस हार्दिक वार्त्तालाप से क्षण भर में सारा वातावरण सजीव कर देते हैं, फिर वे सिनेमा देखने जाते हैं, वहाँ मनोरंजन के दो घंटे बिताकर वे लौटते हैं और तब देवेन्द्रनाथ के साथ बैठकर घण्टों सिनेमा की आलोचना तथा जाने कहाँ कहाँ की बातें करते रहते हैं....इत्यादि।

इस तरह के दिवा-स्वप्न का ताँता क्रमशः बढ़ चला। सुखमा को इसमें बड़ा सुख मिलने लगा, यद्यपि भीतर-भीतर कभी-कभी ऐसी प्रतिक्रिया भी चलने लगती कि इनसे पिंड छूटता तो अच्छा था। किन्तु वह करती तो क्या? रेडियो, फोनोग्राफ, इसराज, नावेल, कहानी, सिनेमा, शब्द-पहेली घूमने-घामने, सभी से तो उसका मन उचाट रहने लगा। इष्ट-मित्र आते तो उनसे वह पहले की तरह आकर्षक और मनोरंजक बात-चीत कर लेती, किन्तु बीच-बीच में वेदना की एक तीव्र रेखा उसके मुखमण्डल पर दौड़ जाया करती और उसकी बातों में एक अदृश्य आह का अनुभव होने लगता जैसा कि हमने आरम्भ में देखा है।

उसने चाहा कि अपने पति के खोज-कार्य में हाथ बँटावें। कई दिन वह उनके साथ काम करने बैठी भी, किन्तु उसके किये कुछ न हो सका। यदि उसने कुछ किया तो यही कि वह खोज की विचार-धारा में बाधक हुई। जो गुत्थियाँ उससे सहज ही सुलझ जानी चाहिये

थीं, उनमें भी वह अटकने-भटकने और ठोकर खाने लगी। देवेन्द्रनाथ का समय उसे सँभालने ही में बीतने लगा। वह काम करते तो क्या ?

सुखमा ने कई बार चाहा कि अपनी अवस्था देवेन्द्रनाथ से खोल दें और मनका बोझ हलका करें, किन्तु साहस न हुआ। ऐसा जान पड़ा कि उसने अपने हृदय की जो दशा बना रक्खी है, उसके लिए वह अपने पति के प्रति दोषी है। सारांश यह कि वह घुट-घुट कर घुलने लगी।

श्रीकान्त की बदली को तीन-चार महीने बीत चुके थे। यहाँ से वह इटावे भेज दिये गये थे। सप्ताह में दो बार उनके पत्र सुखमा को मिला करते, जिनकी प्रत्येक पंक्ति भाभी के प्रति देवर के स्नेह से भीगी रहती थी। कभी-कभी इन पंक्तियों की लपेट में ऐसी बातें भी आ जातीं जिन्हें भाभी के प्रति देवर की रसीली उक्ति कह सकते हैं। सुखमा को यदा-कदा संदेह होता कि क्या ऐसा सिलसिला बढ़ तो नहीं रहा है ? प्रतिपत्र खोलते समय उसे ऐसा होता कि वैसी बातें श्रीकान्त क्यों लिखने लगा है, तो भी उसके अन्तस्तल को उनकी वांछा भी रहती। जब श्रीकान्त के पत्र आते तो उसे कुछ समय के लिए पुरानी स्वस्थता आ जाती, परन्तु पीछे से जो प्रतिक्रिया होती, वह सुखमा को और भी तोड़ देती।

वह यद्यपि अपनी दशा देवेन्द्रनाथ से छिपा रही थी, किन्तु श्रीकान्त के पत्र सदैव उनके सामने रख दिया करती। पढ़कर वह कहा करते—"श्री बड़ा रसिया हुआ जा रहा है। इटावे का जल-वायु उसमें यह परिवर्तन ला रहा है।'

सुखमा इस उक्ति को मिली-जुली वृत्तियों के साथ ग्रहण करती, उसे भय होता और प्रसन्नता भी। जो हो, देवेन्द्रनाथ इस ओर से

निश्चिन्त थे। यदि उन्हें कोई चिन्ता हो रही थी तो सुखमा के स्वाथ्य की जो अब प्रत्यक्त रूप से बिगड़ने लगा था। उसकी भूख और नींद खराब हो चली थी और वह सूखी जा रही थी।

(४)

"हजरत बनते तो हैं तुम्हारे लाड़ले देवर, किन्तु जब तुम्हारी यह दशा हो रही है, तो यह भी न बना कि आकर तुम्हें जल-वायु बदलने के लिए लिवा ले जाते। इटावा तो तुम जानती ही हो, प्रान्त-भर के सबसे स्वास्थ्यप्रद स्थानों में से है"—देवेन्द्रनाथ ने कहा।

"यदि जाना ही हो तो उनकी क्या आवश्यकता, क्या मैं नहीं चली जा सकती ? तुम तो आज ऐसी बात कर रहे हो जैसे मैं परदे में की बहुरिया होऊँ"—सुखमा ने उत्तर दिया।

"नहीं, तुम्हारे स्वास्थ्य के कारण मैंने उनके साथ जाने की बात कही थी।"

"घर के काम में जितनी शक्ति व्यय हो जाती है, रेल में उससे कहीं कम व्यय होगी, फिर चार घण्टे की तो यात्रा है।"

देवेन्द्रनाथ को और कुछ नहीं कहना था। यात्रा का दिन निश्चित हो गया और इसकी सूचना श्रीकान्त को दे दी गई।

"............आप भैया को अकेले छोड़कर आ रही हैं, यह चाहे उनको बहुत खले, किन्तु मैं तो यही कहूँगा कि देवर ने भौजाई को जीत लिया; भैया मुँह देखते रह गये............"—श्रीकान्त ने लिखा।

देवेन्द्रनाथ पत्र पढ़कर बहुत हँसे। कहने लगे—"बड़ा बदमाश हो गया है, ले न ले अपनी भाभी को। लिखे देता हूँ कि तुम्हारी भाभी तुम्हें ऐसी प्यारी हैं तभी तो भेज रहा हूँ। किन्तु बचा, याद रखना बहुत महँगी पड़ेंगी।"

इटावा-यात्रा के निश्चित होते ही सुखमा एक नई स्फूर्ति एवं उल्लास से भर गई तथा तैयारी आरम्भ कर दी। जीवन का जो रस चला गया था, उसका उसमें पुनः संचार होने लगा। उसका हृदय प्रस्थान के लिए उछल रहा था, किन्तु उसमें छिपी हुई एक धड़कन भी थी कि उसे घर न छोड़ना चाहिए।

विवाह के कई वर्ष पूर्व से देवेन्द्रनाथ और सुखमा का प्रतिदिन मिलना-जुलना था। ऐसी कोई घड़ी न जाती जब एक के ध्यान से दूसरा उतरता रहा हो। विवाह के बाद तो वे कभी अलग हुए ही न थे। सुखमा का नैहर नगर में ही था। कभी-कभी वह वहाँ हो आया करती; नये ढंग के परिवारों में नैहर-ससुराल के बीच कोई अलंघ्य भीत तो रहती नहीं। अब यह यात्रा उसके लिए एक नया अनुभव होनेवाली थी, जिसने हृदय में एक आंदोलन मचा रक्खा था। किन्तु इसके ऊपर कुछ और भी था........उसे इस प्रकार इटावे नहीं जाना चाहिए।

फिर भी उसने सोत्साह घर से प्रयाण किया। देवेन्द्रनाथ उसे बड़ी ममता से सवार करा आये। इधर वह सूने हृदय से घर लौट रहे थे, उधर ट्रेन में उसकी लयपूर्ण गति के साथ-साथ सुखमा के हृदय की धड़कन 'अच्छा किया', 'बुरा किया' की धुन लगाये हुए थी। दौड़ती हुई गाड़ी में से इधर-उधर के दृश्य वह एक नशे की हालत में देख रही थी। कई बार मन में आया, इसी स्टेशन से उतर कर घर लौट चलूँ, किन्तु कुछ निश्चय न कर पाई। ट्रेन इटावे के पास पहुँचती जा रही थी।

अब सुखमा के सारे बिखरे विचार इस विन्दु पर आ गये कि इटावे अब पहुँचे............सुखमा खिड़की से झाँक रही थी, देखा—भीड़ चीरते हुए श्रीकान्त उसके डब्बे की ओर लपके आ रहे

हैं। ट्रेन रुकते न रुकते देवर-भौजाई आमने-सामने थे। दोनों खिल उठे, सुखमा को डब्बे से उतारते हुए श्रीकान्त ने उसकी कलाई दबा-कर मधुर कंठ से कहा—'भाभी, आखिर मेरा स्नेह तुम्हें यहाँ खींच ही लाया।' सुखमा इसका कुछ उत्तर देती, किन्तु श्रीकान्त के कहने का ढंग उसे कुछ खल-सा गया। जिस प्रकार की आत्मीयता उन दोनों में चली आ रही थी, सुखमा ने उसकी सीमा का, इस उक्ति में प्रत्यक्ष उल्लंघन पाया। वह चुप रह गई। किन्तु मौन क्षणिक था। वे तुरन्त ही घुलकर बातें करने लगे जिसका सिलसिला बराबर डिप्टी साहब के बँगले तक जारी रहा। वहाँ पहुँचकर सुखमा ने पाया कि श्रीकान्त का परिवार कई दिन पहले घर चला गया है। यह समाचार उसने सशंक कानों से सुना।

(५)

सुखमा को इटावे आये कई दिन बीत चुके। उसका समय खूब आमोद्-प्रमोद् में कटता है, उसका स्वास्थ्य भी अपनी प्राकृतिक दशा की ओर पहुँचता जा रहा है, जिस किन्तु वातावरण में उसके ये दिन बीत रहे हैं, उससे वह सात्म्य नहीं कर पाती। इतना ही नहीं, श्रीकान्त का साथ कभी-कभी उसे अनमनी कर देता है। उनकी उक्तियाँ कभी-कभी उसका हृदय वितृष्णा से भर देती हैं। अब उसे विश्वास हो चला कि श्रीकान्त जान-बूझकर शील की सीमा को लाँघ रहा है और वह हठात् उसके संग घसिटती जा रही है।

सुखमा के हृदय में देवेन्द्रनाथ के बिछोह का जो तूफान उठा था, अब उसने एक बड़ा गम्भीर रूप धारण कर लिया। एक ओर प्रसन्नता और विरक्ति का मिला-जुला यह अद्भुत वातावरण, दूसरी ओर देवेन्द्रनाथ की दूरी, तीसरी ओर अपनी असमर्थता से सुखमा का हृदय कभी-कभी बहुत ही मथ उठता था, किन्तु बीच-बीच में

श्रीकान्त का नशा उसे सब कुछ भूल जाने को बाध्य करता था। कई बार अपने समाहित क्षणों में उसने देवेन्द्रनाथ को हार्दिकता से इटावा आ जाने के लिए लिखा, किन्तु लिखकर वह पछताई भी; साथ ही इस बात से निश्चिंत भी रही कि वह कहाँ अपना अध्ययन छोड़नेवाले हैं।

इटावा नगर से थोड़ी दूर पर चंबल का प्रखर और निर्मल प्रवाह जिन्होंने देखा है, वे उसे कभी भूल नहीं सकते। ऊँचे कगारवाले किनारों की हरियाली के बीच लहराता हुआ यह नीलम का द्रव हृदय पर अपना स्थायी चित्र अंकित कर देता है। जिन्हें स्वास्थ्य सुधारना हो उनके लिए तो वह स्थान सद्यः प्राणवर्धक है। यहाँ की निखरी हवा, नेत्र-लुब्धक दृश्य और अमृतोपम डाल पाँच मिनट में मनुष्य को पुनर्ज्जीवित कर देते हैं। इसी लिए श्रीकान्त सुखमा को वहाँ नित्य ले जाया करते। एक दिन उन लोगों ने स्थिर किया कि वहीं चाय भी जाया करे।

रास्ते से कुछ दूर एक निभृत हरे-भरे कगार पर एक तिरछे वृक्ष की ओट में श्रीकान्त का ड्राइवर चायभरी थर्मस की बोतल टिफिन वास्केट धर गया। देवर-भौजाई बात करते हुए पीछे से धीरे-धीरे वहाँ पहुँचे। सुखमा एक छोटे-से क्षुप का ढासना लगाकर पैर फैलाकर आराम से अधलेटी बैठ गई। पवन के एक शीतल झोंके ने उसके माथे का अंचल हटा दिया और लटों से खेलने लगा। आकाश में बादल के दो-चार रजत-खंड धीरे-धीरे डोल रहे थे। तीसरे पहर की सूर्य-किरणें उसके ललाट पर अपना प्रकाश बिखेर रही थीं। इधर-उधर छोटी-छोटी पीली तितलियाँ मँडरा रही थीं। नीचे चंबल की कलकल ध्वनि एक अस्फुट संगीत सुनाती चली जा रही थी। सुखमा अलस भाव से अनमनी-सी इस सबका अनुभव कर रही थी। उसका

मन न जाने किन अज्ञात भावों में डूब-उतरा रहा था, तो भी इस समय उसके हृदय में कोई विरक्ति वा वितृष्णा न थी। सम्भवतः इस निभृत में वह एक दिव्य सुख का अनुभव कर रही थी। श्रीकान्त की उपस्थिति उसकी इस वृत्ति का बाधक नहीं, साधक ही थी।

सुखमा ने श्रीकान्त के कहने पर जलपान की दो रकाबियाँ लगाईं, फल बनाये और चाय के तीन प्याले भरे; श्रीकान्त एक बार में दो प्याले से कम चाय न पीते थे। फिर अपने प्याले से धीरे-धीरे चाय की चुस्की लेती हुई वह पूर्ववत् अपने में ही निमग्न हो गई। सूर्य क्रमशः नीचे उतरता जा रहा था और उसका प्रकाश स्वर्णिल होने की पूर्व-सूचना दे रहा था। उसकी आभा में सुखमा के चेहरे पर एक अद्भुत लावण्य व्याप गया था। उस ओर देखते-देखते श्रीकान्त ने कुछ ही घूँटों में अपने दोनों प्याले साफ कर दिये।

सुखमा ने अपने प्याले से कुछ चुस्कियाँ लेकर उसे रख दिया था। उसे भी श्रीकान्त, सुखमा के देखते-देखते उठाकर एक साँस में दो-तीन बड़ी-बड़ी घूँटों में पी गये। सुखमा ने मानो एक नींद से, चौंककर पूछा—"अरे! तुमने यह क्या किया?"

"मुझे क्या इतना भी अधिकार नहीं? मुझे तो अधिकार है...." कहते-कहते श्रीकान्त ने उचककर सुखमा को अपने बाहुपाश में बाँध लिया।

सुखमा एक तीव्र आवेश से भर उठी, उनके बीच जो मार्दव पहुँचते-पहुँचते इस सीमा तक पहुँच गया था, वह एक क्षण में बालू की भीत की तरह ढह गया और श्रीकान्त का चुम्बन के लिए झुका हुआ मुख उसके थपेड़े से घूम गया। एक झटका देकर सुखमा अलग खड़ी हो गई। उसकी देह उद्वेग के कारण बेंत की तरह काँप रही थी। उसकी अथाह काली पुतलियाँ, बड़ा तीव्र प्रकाश उगल

रही थीं। किन्तु श्रीकान्त मानो इन सबका कुछ लक्ष्य न करके, सतृष्ण वेग से उसकी ओर बढ़ा।

श्रीकान्त को बीच ही में रोकती हुई उसने आवेश के स्वर में कहा—"मैं नहीं जानती थी कि तुम इतने नीच हो सकते हो। तुम यह न समझना कि मेरे शरीर पर तुम अधिकार पा सकोगे। मैं भले ही एक लम्बे समय से निरन्तर तुम पर अवलंबित होती गई हूँ, किन्तु इस हद के लिए मैं कदापि तैयार न थी। चाहे तुम्हारी तुलना में मैं तन से निःशक्त होऊँ, किन्तु मेरी रक्षा के लिए यह चंबल बह रही है। यदि तुम एक पग भी आगे बढ़े तो यह शरीर चंबल में डूबता दिखाई देगा।"

इधर कुछ महीनों से यदि एक ओर सुखमा का मानसिक स्खलन होता जा रहा था, तो दूसरी ओर बीच-बीच में एक तीक्ष्ण प्रतिक्रिया भी काम कर रही थी, जिसके कारण आज तक उसके शील की रक्षा होती आई थी। इस समय श्रीकान्त के व्यवहार की पशुता एवं आकस्मिकता ने वह प्रतिक्रिया पूरी कर दी थी। फलतः सुखमा पूर्ण रूप से निर्मम हो उठी थी। श्रीकान्त के पाँवों में मानो ब्रेक लग गया हो। उसका सारा नशा एक क्षण में उतर चुका था। उसने अपनी सफाई में कुछ कहना चाहा, किन्तु सुखमा ने इसका मौका न दिया। गम्भीरता से बोली—"सुनो श्रीकान्त! जो कुछ हो चुका है, उसे मैं भूलने के लिए तैयार हूँ। किन्तु अब मैं तुम्हारी कोई बात नहीं सुनना चाहती। चुपचाप रहो। साथ ही उसने ड्राइवर को आवाज़ दी और पाँच मिनट के भीतर वे इटावे की ओर लौटते दिखाई दिये।

× × ×

कुछ घण्टे बाद, उसी रात सुखमा अपने घर के लिए लौट पड़ी। वह शारीरिक ही नहीं, मानसिक स्वास्थ्य भी लेकर लौट रही

थी। उसने अपने पति से यदि अब तक कोई रहस्य रक्खा था, तो पिछले कई महीनों की अपनी मनोदशा का। किन्तु घर पहुँच कर उसने पहला काम यही किया कि विगत महीनों के रहस्य से लेकर चंबल-किनारे की घटना तक विस्तार के साथ देवेन्द्रनाथ को सुना गई—इस बोझ को वह और नहीं झेल सकती थी।

देवेन्द्रनाथ अथ से इति तक धीरज के साथ ध्यानपूर्वक सुनते रहे। पर उन्होंने सुखमा को इसकी संधि न दी, कि वह एक दोषी के रूप में उनके सामने उपस्थित हो। वृत्तान्त समाप्त होते ही वह एक निवृत्ति की साँस लेकर सात्विक मुस्कान के साथ बोले—"मैं अंधा नहीं हूँ। आरम्भ से ही सब कुछ देख-समझ रहा था, किन्तु निश्चिन्त था। मुझे विश्वास था, कि मेरी सुखमा दूसरे की नहीं हो सकती।"

उस क्षण इस बीसवीं सदी की पत्नी ने अपने कालेज के सहपाठी पति को एक देवता के रूप में पाया। उनका वाक्य पूरा होते न होते उसका मस्तक अपने देवता के चरणों पर था, और यदि उसकी आँखों की कालिमा में कोई भेद रह गया था तो वह आँसू के रूप में विगलित होकर उन चरणों का पाद्य बन रहा था।

अब हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं, कि सुखमा की आँखों की थाह लेने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि अब उनमें कोई भेद है ही नहीं।

मिठाईवाला

[श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी]

(१)

बहुत ही मीठे स्वरों के साथ वह गलियों में घूमता हुआ कहता—"बच्चों को बहलानेवाला, खिलौनेवाला।"

इस अधूरे वाक्य को वह ऐसे विचित्र, किन्तु मादक-मधुर ढंग से गाकर कहता कि सुननेवाले एक बार अस्थिर हो उठते। उसके स्नेहाभिषिक्त कंठ से फूटा हुआ उपर्युक्त गान सुनकर निकट के मकानों में हलचल मच जाती। छोटे-छोटे बच्चों को अपनी गोद में लिये हुए युवतियाँ चिकों को उठाकर छज्जों पर से नीचे झाँकने लगतीं। गलियों और उनके अन्तर्व्यापी छोटे-छोटे उद्यानों में खेलते और इठलाते हुए बच्चों का झुंड उसे घेर लेता, और तब वह खिलौनेवाला वहीं कहीं बैठकर खिलौने की पेटी खोल देता।

बच्चे खिलौने देखकर पुलकित हो उठते। वे पैसे लाकर खिलौनों का मोल-भाव करने लगते। पूछते—"इछका दाम क्या है औल इछका, औल इछका?" खिलौनेवाला बच्चों को देखता, और उनकी नन्हीं-नन्हीं उँगलियों और हथेलियों से पैसे ले लेता, और बच्चों के इच्छानुसार उन्हें खिलौना दे देता। खिलौने लेकर फिर बच्चे उछलने-कूदने लगते और तब फिर खिलौनेवाला उसी प्रकार गाकर कहता—"बच्चों को बहलनेवाला, खिलौनेवाला।" सागर की हिलोर की भाँति उसका यह मादक गान गली-भर के मकानों में, इस ओर से उस ओर तक, लहराता हुआ पहुँचता, और खिलौनेवाला आगे बढ़ जाता।

राय विजयबहादुर के बच्चे भी एक दिन खिलौने लेकर घर

आये। वे दो बच्चे थे—चुन्नू और मुन्नू। चुन्नू जब खिलौना ले आया तो बोला—"मेला घोला कैछा छुन्दल ऐ!"

मुन्नू बोला—"औल देखो, मेला आती कैछा छुन्दल ऐ!"

दोनों अपने हाथी-घोड़े लेकर घर भर में उछलने लगे। इन बच्चों की मा, रोहिणी कुछ देर तक खड़े-खड़े इनका खेल निरखती रही। अन्त में दोनों बच्चों को बुलाकर उसने उनसे पूछा—"अरे ओ चुन्नू-मुन्नू, ये खिलौने तुमने कितने में लिए हैं?"

मुन्नू बोला—"दो पैछे में। खिलौनेवाला दे गया ऐ।"

रोहिणी सोचने लगी—इतने सस्ते कैसे दे गया है? कैसे दे गया है, यह तो वही जाने। लेकिन दे तो गया ही है, इतना तो निश्चय है।

एक जरा-सी बात ठहरी। रोहिणी अपने काम में लग गई। फिर कभी उसे इस पर विचार करने की आवश्यकता ही भला क्यों पड़ती?

(२)

छः महीने बाद।

नगर भर में दो ही चार दिनों में एक मुरलीवाले के आने का समाचार फैल गया। लोग कहने लगे—"भई वाह! मुरली बजाने में वह एक ही उस्ताद है। मुरली बजाकर, गाना सुनाकर वह मुरली बेचता भी है, सो भी दो-दो पैसे। भला, इसमें उसे क्या मिलता होगा। मेहनत भी तो न आती होगी।"

एक व्यक्ति ने पूछ दिया—"कैसा है वह मुरलीवाला, मैंने तो उसे नहीं देखा?"

उत्तर मिला—"उम्र तो उसकी अभी अधिक न होगी, यही तीस-बत्तीस का होगा। दुबला-पतला गोरा युवक है, बीकानेरी रंगीन साफा बांधता है।"

'वही तो नहीं, जो पहले खिलौने बेचा करता था ?''

"क्या वह पहले खिलौने भी बेचता था ?"

"हाँ, जो आकार-प्रकार तुमने बतलाया, उसी प्रकार का वह भी था।"

"तो वही होगा। पर भई, है वह एक ही उस्ताद।"

प्रतिदिन इसी प्रकार उस मुरलीवाले की चर्चा होती। प्रतिदिन नगर की प्रत्येक गली में उसका मादक, मृदुल स्वर सुनाई पड़ता— "बच्चों को बहलानेवाला, मुरलियावाला!"

रोहिणी ने भी मुरलीवाले का यह स्वर सुना। तुरन्त ही उसे खिलौनेवाले का स्मरण हो आया। उसने मन-ही-मन कहा— खिलौनेवाला भी इसी तरह गा-गाकर खिलौने बेचा करता था।

रोहिणी उठकर अपने पति विजय बाबू के पास गई, बोली— "जरा उस मुरलीवाले को बुलाओ तो, चुन्नू-मुन्नू के लिये ले लूँ। क्या जाने यह फिर इधर आये, न आये। वे भी, जान पड़ता है, पार्क में खेलने निकल गये हैं।"

विजय बाबू एक समाचार-पत्र पढ़ रहे थे। उसी तरह उसे लिये हुए वे दरवाजे पर आकर मुरलीवाले से बोले—"क्यों भई, किस तरह देते हो मुरली ?"

किसी की टोपी गली में गिर पड़ी। किसी का जूता पार्क में ही छूट गया, और किसी की सोथनी (पाजामा) ही ढीली होकर लटक आई। इस तरह दौड़ते-हाँफते हुए बच्चों का झुंड आ पहुँचा। एक स्वर से सब बोल उठे—"अम बी लेंदे मुल्ली, और अम बी लेंदे मुल्ली।"

मुरलीवाला हर्ष-गद्‍गद हो उठा। बोला—"सबको देंगे भैया! लेकिन जरा रुको, जरा ठहरो, एक-एक को लेने दो। अभी इतनी

जल्दी हम कहीं लौट थोड़े ही जायँगे । बेचने तो आये ही हैं, और हैं भी इस समय मेरे पास एक-दो नहीं, पूरी सत्तावन ।....हाँ बाबू जी, क्या पूछा था आपने, कितने में दीं ?....दीं तो वैसे तीन-तीन पैसे के हिसाब से हैं पर आपको दो-दो पैसे में ही दे दूँगा ।"

विजय बाबू भीतर-बाहर दोनों रूपों में मुस्किरा दिये । मन-ही-मन कहने लगे—"कैसा ठग है ! देता सब को इसी भाव से है, पर मुझपर उलटा एहसान लाद रहा है ।' फिर बोले—"तुम लोगों को झूठ बोलने की आदत ही होती है । देते होगे सभी को दो-दो पैसे में, पर एहसान का बोझा मेरे ही ऊपर लाद रहे हो !"

मुरलीवाला एकदम अप्रतिभ हो उठा । बोला—"आपको क्या पता बाबू जी कि इनकी असली लागत क्या है । यह तो ग्राहकों का दस्तूर होता है कि दूकानदार चाहे हानि ही उठाकर चीज क्यों न बेचे, पर ग्राहक यही समझते हैं—दूकानदार मुझे लूट रहा है ।....आप भला काहे को विश्वास करेंगे । लेकिन सच पूछिए तो बाबूजी, इनका असली दाम दो ही पैसा है। आप कहीं से भी दो-दो पैसे में ये मुरलियाँ नहीं पा सकते । मैंने तो पूरी एक हजार बनवाई थीं, तब मुझे इस भाव पड़ी हैं ।'

विजय बाबू बोले—"अच्छा-अच्छा, मुझे ज्यादा वक्त नहीं, जल्दी से दो ठो निकाल दो ।"

दो मुरलियाँ लेकर विजय बाबू फिर मकान के भीतर पहुँच गये ।

मुरलीवाला देर तक उन बच्चों के झुण्ड में मुरलियाँ बेचता रहा । उसके पास कई रंग की मुरलियाँ थीं । बच्चे जो रंग पसन्द करते, मुरलीवाला उसी रंग की मुरली निकाल देता ।

"यह बड़ी अच्छी मुरली है । तुम यही ले लो बाबू, राजा

बाबू, तुम्हारे लायक तो बस यही है ।....हाँ, भैये, तुमको वही देंगे । ये लो ।....तुमको वैसी न चाहिए, ऐसी चाहिए, यह नारंगी रंग की, अच्छा, यही लो ।....पैसे नहीं हैं ? अच्छा, अम्मा से पैसे ले आओ । मैं अभी बैठा हूँ । तुम ले आए पैसे ?....अच्छा, ये लो, तुम्हारे लिये मैंने पहले ही से यह निकाल रक्खी थी ।....तुमको पैसे नहीं मिले ! तुमने अम्मा से ठीक तरह से माँगे न होंगे । धोती पकड़कर पैरों में लिपटकर, अम्मा से पैसे माँगे जाते हैं बाबू । हाँ, फिर जाओ । अब की बार मिल जायँगे ।....दुअन्नी है ? तो क्या हुआ, ये दो पैसे वापस लो । ठीक हो गया न हिसाब ?....मिल गए पैसे ! देखो; मैंने कैसी तरकीब बताई ! अच्छा, अब तो किसी को नहीं लेना है ? सब ले चुके ? तुम्हारी मा के पास पैसे नहीं हैं ? अच्छा, तुम भी यह लो । अच्छा, तो अब मैं चलता हूँ ।"

इस तरह मुरलीवाला फिर आगे बढ़ गया ।

(३)

आज अपने मकान में बैठी हुई रोहिणी मुरलीवाले की सारी बातें सुनती रही । आज भी उसने अनुभव किया, बच्चों के साथ इतने प्यार से बातें करनेवाला फेरीवाला पहले कभी नहीं आया । फिर वह सौदा भी कैसा सस्ता बेचता है । भला आदमी जान पड़ता है । समय की बात है, जो बेचारा इस तरह मारा-मारा फिरता है । पेट जो न कराये, सो थोड़ा ।

इसी समय मुरलीवाले का क्षीण स्वर दूसरी निकट की गली से सुनाई पड़ा—"बच्चों को बहलानेवाला, मुरलियावाला !"

रोहिणी इसे सुनकर मन ही मन कहने लगी—और स्वर कैसा मीठा है इसका ।

बहुत दिनों तक रोहिणी को मुरलीवाले का वह मीठास्वर और

उसकी बच्चों के प्रति वे स्नेह-सिक्त बातें याद आती रहीं। महीने के महीने आये और चले गये। पर मुरलीवाला न आया। धीर-धीरे उसकी स्मृति भी क्षीण हो गई।

(४)

आठ मास बाद—

सरदी के दिन थे। रोहिणी स्नान करके अपने मकान की छत पर चढ़कर आजानुविलंबित केश-राशि सुखा रही थी। इसी समय नीचे की गली में सुनाई पड़ा—"बच्चों को बहलानेवाला, मिठाईवाला!"

मिठाईवाले का स्वर उसके लिए परिचित था, झट से रोहिणी नीचे उतर आई। उस समय उसके पति मकान में नहीं थे। हाँ, उसकी वृद्धा दादी थीं। रोहिणी उनके निकट आकर बोली—"दादी, चुन्नू-मुन्नू के लिए मिठाई लेनी है। जरा कमरे में चलकर ठहराओ तो। मैं उधर कैसे जाऊँ, कोई आता न हो। जरा हटकर मैं भी चिक की ओट में बैठी रहूँगी।"

दादी उठकर कमरे में आकर बोलीं—"ए मिठाईवाले, इधर आना।"

मिठाईवाला निकट आ गया। बोला—"कितनी मिठाई दूँ मा? ये नये तरह की मिठाइयाँ हैं—रंग-बिरंगी, कुछ-कुछ खट्टी, कुछ-कुछ मीठी, जायकेदार; बड़ी देर तक मुँह में टिकती हैं। जल्दी नहीं घुलतीं। बच्चे इन्हें बड़े चाव से चूसते हैं। इन गुणों के सिवा ये खाँसी भी दूर करती हैं। कितनी दूँ? चपटी, गोल और पहलदार गोलियाँ हैं। पैसे की सोलह देता हूँ।"

दादी बोलीं—"सोलह तो बहुत कम होती हैं, भला पचीस तो देते।"

मिठाईवाला—"नहीं दादी, अधिक नहीं दे सकता। इतनी भी

कैसे देता हूँ, यह अब मैं तुम्हें क्या....। खैर, मैं अधिक न दे सकूँगा।"

रोहिणी दादी के पास ही बैठी थी। बोली—"दादी, फिर भी काफी सस्ता दे रहा है। चार पैसे की ले लो। ये पैसे रहे।"

मिठाईवाला मिठाइयाँ गिनने लगा।

"तो चार की दे दो। अच्छा, पच्चीस न सही, बीस ही दो। अरे हाँ, मैं बूढ़ी हुई, मोल-भाव अब मुझे ज्यादा कर आता भी नहीं।"—कहते हुए दादी के पोपले मुँह की जरा सी मुस्कराहट भी फूट निकली।

रोहिणी ने दादी से कहा—"दादी, इससे पूछो, तुम इस शहर में और भी कभी आये थे, या पहली ही बार आये हो। यहाँ के निवासी तो तुम हो नहीं।"

दादी ने इस कथन को दोहराने की चेष्टा की ही थी कि मिठाई-वाले ने उत्तर दिया—"पहली बार नहीं, और भी कई बार आ चुका हूँ।"

रोहिणी चिक की आड़ ही से बोली—"पहले यही मिठाई बेचते हुए आये थे, या और कोई चीज लेकर?"

मिठाईवाला हर्ष, संशय और विस्मयादि भावों में डूबकर बोला—"इससे पहले मुरली लेकर आया था, और उससे भी पहले खिलौने लेकर।"

रोहिणी का अनुमान ठीक निकला। अब तो वह उससे और भी कुछ बातें पूछने के लिये अस्थिर हो उठी। वह बोली—"इन व्यवसायों में भला तुम्हें क्या मिलता होगा?"

वह बोला—"मिलता भला क्या है! यही, खाने भर को मिल जाता है। कभी नहीं भी मिलता है। पर हाँ, संतोष, धीरज और

कभी-कभी असीम सुख जरूर मिलता है। और यही मैं चाहता भी हूँ।"

"सो कैसे ? वह भी बताओ।"

"अब व्यर्थ उन बातों की क्यों चर्चा करूँ ? उन्हें आप जाने ही दें। उन बातों को सुनकर आपको दुःख ही होगा।"

"जब इतना बताया है, तब और भी बता दो। मैं बहुत उत्सुक हूँ। तुम्हारा हर्जा न होगा। मिठाई मैं और भी कुछ ले लूँगी।"

अतिशय गम्भीरता के साथ मिठाईवाले ने कहा—"मैं भी अपने नगर का एक प्रतिष्ठित आदमी था। मकान, व्यवसाय, गाड़ी-घोड़े, नौकर-चाकर, सभी कुछ था। स्त्री थी; छोटे-छोटे दो बच्चे भी थे। मेरा वह सोने का संसार था। बाहर संपत्ति का वैभव था, भीतर सांसारिक सुख का। स्त्री सुन्दरी थी, मेरी प्राण थी। बच्चे ऐसे सुन्दर थे, जैसे सोने के सजीव खिलौने। उनकी अठखेलियों के मारे घर में कोलाहल मचा रहता था। समय की गति ! विधाता की लीला ! अब कोई नहीं है। दादी, प्राण निकाले नहीं निकले। इसीलिए अपने उन बच्चों की खोज में निकला हूँ। वे सब अंत में होंगे तो यहीं कहीं। आखिर, कहीं-न-कहीं जन्मे ही होंगे। उस तरह रहता, तो घुल-घुलकर मरता। इस तरह सुख-संतोष के साथ मरूँगा। इस तरह के जीवन में कभी-कभी अपने उन बच्चों की एक झलक-सी मिल जाती है। ऐसा जान पड़ता है, जैसे वे इन्हीं में उछल-उछलकर हँस-खेल रहे हैं। पैसों की कमी थोड़े ही है, आपकी दया से पैसे तो काफी हैं। जो नहीं है, इस तरह उसी को पा जाता हूँ।"

रोहिणी ने अब मिठाईवाले की ओर देखा। देखा—उसकी आँखें आँसुओं से तर हैं।

इसी समय चुन्नू-मुन्नू आ गये। रोहिणी से लिपटकर, उसका अंचल पकड़कर बोले—"अम्मा, मिठाई !"

"मुझ से लो।"—कहकर, तत्काल कागज की दो पुड़ियाँ, मिठाइयों से भरी, मिठाईवाले ने चुन्नू-मुन्नू को दे दीं।

रोहिणी ने भीतर से पैसे फेंक दिये।

मिठाईवाले ने पेटी उठाई, और कहा—' अब इस बार ये पैसे न लूँगा।"

दादी बोलीं—"अरे-अरे, न-न, अपने पैसे लिये जा भाई !"

तब तक आगे फिर सुनाई पड़ा उसी प्रकार मादक, मृदुल स्वर में—"बच्चों को बहलानेवाला, मिठाईवाला !"

दृष्टि-दोष

[श्री जैनेन्द्रकुमार]

बचपन में जो कुछ हो जाता है, वह याद रहता भी है, नहीं भी रहता है। हम भी उसमें से 'कुछ इस' को तो भुला देना चाहते हैं और 'कुछ उस' को अपने निकट सदा ताजा रखे रहना चाहते हैं। किन्तु, बढ़ते चलने में क्या छूटता जायगा और क्या अपने भीतर संग्रहीत हुआ रहेगा, सो किसी नियम से शोधा नहीं जा सकता।

मेरी अवस्था पैंतालीस वर्ष की होगी। विवाह भी कर लिया है और अपनी डाक्टरी में मजबूती से सँभला बैठा हूँ। इस डाक्टरी की अच्छी आय और ऊँची प्रतिष्ठा की कुर्सी पर से अब जब बचपन को

देखता हूँ तो वह अच्छा ही लगता है। अब यह स्वीकार करते हमें आनन्द ही होता है कि हम छोटे थे तब बड़े मूर्ख थे। क्योंकि, उससे बिल्कुल पार हो जाकर, हम अब उस पर असंलग्न निगाह डाल सकते हैं।

किशोरावस्था को भी बचपन ही कहिये। अन्तर इतना ही है इस अवस्था में बच्चे की बेवकूफी यहाँ तक बढ़ जाती है कि उसे हिम्मत होती है कि वह अपने को बड़ा समझे, बच्चा न समझे।

उसी किशोरावस्था में एक बात घटी।—अब तो उसे 'बात' ही कहना चाहिये; किन्तु, जब वह हो रही थी तब कोरी 'बात' ही नहीं थी। क्या थी, यह पाना एकदम अशक्य है। पर सारी जिन्दगी को एक मोड़ पर वह डाल गई और वहाँ सदा के लिये जैसे एक गाँठ बैठ गई।

घर मेरा ग्वालियर था, पढ़ता कानपुर था। कानपुर एक रिश्तेदार के यहाँ रहता था। अब वह 'बात' यह थी कि एक सम्भ्रान्त पड़ोसी के घर में सुभद्रा नाम की एक लड़की रहती थी। नवीं क्लास में थी या दसवीं में, ठीक याद नहीं। स्वभावतः हम एक दूसरे को जानने लगे। परस्पर परिचय पाया, मिले। परिणाम यह हुआ कि एक रोज मेरे मन में होने लगा कि मैं या तो उसे पा लूँ या मर जाऊँ। किन्तु इन दोनों में से कोई बात होने में नहीं आई। हुआ यह कि मैंने सुना, लड़की के पिता उसकी सगाई के लिये अन्यत्र कहीं ठीक-ठाक कर रहे हैं। सुनकर जग फीका लगने लगा। उस समय मन में आया कि चलो जी, मर मराकर पाप काटो। यह भी सोचा कि मैं तो मरूँ ही, चलो, सुभद्रा को भी तमंचे की एक चोट से छुटकारा दे दूँ। फिर कहाँ रहेगा जगत और कहाँ रहेगी हमारे मन की व्यथा।

किन्तु जिक्र हुआ—ब्याह !

मैंने कहा—उँह !

फिर जिरह हुई—अरे क्यों ?

मैंने पिंड छुड़ाया, कहा—छोड़ो, छोड़ो ।

सो उमर आती गई । मा-बाप छीजते गये । और एक दिन वे मर गये ।

तब मैं डाक्टरी को पकड़कर उसके साथ और भी जोर से आलिंगन में चिपट गया । जैसे मैंने मन में कहा, 'अरी ओ तू सत्यानाशिनी डायन डाक्टरी, अब तू मुझसे कहाँ जायगी ? तू भी देख कि मैं तुझे फुला-फुलाकर कितनी मोटी कर देता हूँ । पर मोटापा ही तेरे भाग्य में है, अरी वंध्या ....!'

इस भाँति मैं चालीस वर्ष के लगभग का हो आया । स्थूल भी होता आया । पैसे के सिर पर पैसा आकर चिपटकर बैठता गया और डाक्टरी फूलकर फूलती गई । लेकिन मैं अब कभी-कभी अपने को निष्फल-सा भी अनुभव करता । मन गिरा-गिरा-सा रहता और लगता कि मैं जैसे झड़ चुका हूँ । मैं अकेला हूँ और दुनिया धन जोड़ने के लिए है—मानो इस बात पर मन अब चिपकाये न चिपकता, वहाँ से वह खिसक आना ही चाहता । ऐसे समय अपने बारे में और सतर्क होकर मैं अपने को सँभाल लेता । खूब चुस्त और कर्तव्य में अत्यन्त लीन होकर कर्म में चिपटा ही रहता,—व्यस्त ही रहता । सोता बहुत कम । पढ़ता था, प्रयोग करता था, परीक्षण करता था,—उसके बाद रोग-निदान और दवा-दान करता था । नौकर बहुत थे और वे सब मुझसे होशियार रहते थे । अपनी भाँति मैं उन्हें भी मशीन की नाईं अथक और चुस्त न देखूँ, यह मुझे असह्य था । मैं उन पर रह-रह कर झल्लाता और झींकता था । वक्त का मेरे लिए बहुत मूल्य था, क्योंकि

उसको अपना सामना करते मैं न देखना चाहता था। मैं अत्यन्त उद्यमी डाक्टर था। किन्तु—

किन्तु इस सबसे मैं तंग भी था।

इस भाँति बयालीस वर्ष का होते होते मैंने सोचा, मैं विवाह करूँगा और एक मादा से विवाह मैंने कर लिया।

मादा कहने से यह मतलब नहीं कि मैंने स्त्री से विवाह नहीं किया। नहीं, वह स्त्री थी, किसी की पुत्री भी थी, किसी की बहन भी थी। उसका नाम भी था, आकार भी था और उसमें व्यक्तित्व भी तो था ही। किन्तु मैंने विवाह तो नाम, रूप अथवा स्त्री के स्त्रीत्व और व्यक्तित्व आदि से नहीं किया। वह तो मैंने मादा थी, इससे किया। मादा होने के कारण भर से मैंने स्त्री को विवाहा।

घर में चार नौकर हैं, इतनी कुर्सी, इतने पलँग, इतने तौलिये हैं, तो जरूरत के लिये एक मादा भी क्यों नहीं हो सकती? विवाह की कीमत देकर इसलिए उस जरूरत की चीज को भी मैंने अपने तईं सुलभ बना लिया।

अब मैं लगभग पैंतालीस वर्ष का हूँ। ऐसी पकी अवस्था में अपनी स्थूलांगिनी और कांचनदेहा डाक्टरी के स्वामित्व-काल के बीच में ही, वर्षा से भीगे हुए एक दिन, जो घटना हो गई क्या उसको आप समझेंगे?

(२)

सबेरे से बारिश हो रही थी। सर्दी खूब थी। आज मैं कुछ बेकाम-सा था। रोगी कम आये थे। बादल खुलने में न आते थे। रिमझिम-रिमझिम पड़ती हुई बूँदों से मेरा भी जी जैसे कुछ विवश हो आ रहा हो। मानो बूँदें मेरे भीतर चली आकर अंतर को भिगो रही हों। मैं इस तरह की बे-मतलब अवस्थाओं को नापसन्द करता हूँ, जब हम पाते हैं कि अपने

ही में हम घुले जा रहे हैं, घुले जा रहे हैं !—छिः ! यह क्या आदमियत है ? इसलिए उन नीरव और गीली घड़ियों को चुनौती देता हुआ सा मैं पुरुषार्थपूर्वक कुर्सी से खड़ा होकर अपने ही कमरे में टहलने लगा। तभी थोड़ी देर में मुंशी ने आकर एक पर्चा मुझे दिया जिस पर लिखा था 'on Business' नीचे हस्ताक्षर स्पष्ट न थे। मैंने पूछा—कौन है ?

मुंशी के बताने से मालूम हुआ, एक भद्र महिला हैं।

महिला....! मैं दृढ़ कदमों से टहल रहा हूँ, तब भद्र महिला....!

मैंने किंचित परुषभाव से कहा—वह क्या चाहती है ?

मुंशी ने संकेत से बताया कि जहाँ तक वह समझता है, जो पर्चे में लिखा है, वह वही महिला चाहती होगी।

मैंने अपनी कुर्सी की ओर बढ़ते हुए कहा—अच्छा, उन्हें आने दो।

महिला आईं। मैं कुर्सी पर बैठा रहा, अभिवादन में झूठे को तनिक ही उठा हूँगा कि बैठ गया।

महिला ने कुर्सी खींची, हाथ में से ग्लब्स खींचकर तह करके मेज पर रख दिये और खड़े ही खड़े हठात् मुस्कराते हुए कहा—डाक्टर साहब, आप मुझे अपनी मरीजा बनने दीजिएगा ?

यह कहते कहते वह कुर्सी पर बैठ गईं।

मेरे भीतर कुछ वस्तु जोर से उठने और बैठने लगी। मुझे अपने को यह मनाना मुश्किल होता जाता था कि मैं डाक्टर हूँ और यह मरीजा है, कि मैं अपरचित हूँ और यह भी मेरी अपरिचिता है।

मानो अपने बावजूद मैंने कहा—आपका नाम—

महिला ने बीच ही में बात को लेकर कहा—जी हाँ, मेरा नाम सुभद्रा है, और मैं खूब सानन्द हूँ।

मानो अब मैं अपने भीतर शान्त होने लगा और आदतवश अनायास डाक्टर हो चला। मैंने साधारण भाव से कहा—ओह!

सुभद्रा ने कहा—जी हाँ, डाक्टर साहब, मैं बिलकुल खुश हूँ। लेकिन लोग कहते हैं कि मुझे दृष्टि-दोष है। जरा जोर पड़ने पर आँखों में पानी उतर आता है। आप आँख के विशेषज्ञ हैं। आज जब काम से देहली आना हो गया है तब मैं आपसे पूछना चाहती हूँ कि क्या मुझे आप अपनी मरीजा बनने देंगे?

मैंने कहा—अच्छा।

इस 'अच्छा' से मानो मैंने अच्छी तरह कह दिया कि मैं डाक्टर ही हूँ।

मैं उठकर एक तरफ को बढ़ा, कहा—आप जरा इधर आइएगा?

उनकी आँखों को साधारण रीति से देखा, यथानियुक्ति दूरी पर रखे बड़े-छोटे अक्षरों को पढ़वाया और मुस्कराकर कहा—दृष्टि में तो दोष नहीं मालूम होता।

उन्होंने कहा—आँख में पानी बहुत जल्द आ जाता है।

मैंने कहा—तो थोड़ी तकलीफ और कीजिये।

और डार्क रूम में ले गया। वहाँ अँधेरा ही अँधेरा था। मैंने चट से बिजली खोली और आँख के सम्बन्ध में उनका इतिवृत्त जानना आरम्भ किया। वह मुस्कराती जाती थीं। मुझे ध्यान रखना पड़ रहा था कि मैं डाक्टर हूँ। मैंने आवश्यक प्रयोग और परीक्षण कर कहा—चलिये, अब दफ्तर में चलें।

वह कुर्सी पर बैठी थीं। मैं बराबर में खड़ा था। एक दूधिया बत्ती जल रही थी जो इस कमरे की रात को दिन बनाने की भीख

माँगती लगती थी। कुर्सी पर बैठे बैठे उन्होंने कहा—कुछ दवा नहीं दीजिएगा ?

मैंने कहा—दवा आपको जरूर चाहिये तो जरूर दूँगा।

"जी हाँ, क्यों जरूर नहीं चाहिये ?"

मैंने एक शीशी में कुछ बनाकर तैयार कर दिया। और कहने-वाला ही था 'चलिए' कि उन्होंने पूछा—'डाक्टर साहब', मेरी निगाह ठीक हो जायगी ?

मैंने कहा—निगाह तो ठीक ही है।

सुनकर वह चुप हो गई। मैं भी चुप रहा। सब चुप था।—जैसे समय भी चुप ठहर गया हो। बाहर बूँदें टपटप टपकती थीं। वह टपटप अस्पष्ट कमरे में आ रही थी। मानो जीवन का वे ही वहाँ लक्षण थीं, या कि हम दोनों के श्वास। तीन मिनट, चार मिनट हो गये। वे तीन-चार मिनट बेहद भारी होते गये। हाथ कुछ न आता था जो उन घड़ियों को टाल दे, और अटल होकर वे एक एक पल मन मन भर भारी होते जाते थे। मानो अब मिथ्याचार टिकाये न टिकेगा। 'मैं डाक्टर हूँ', इसको कुचलकर यह प्रतीति मानो ऊपर आ ही रहेगी कि 'मैं पुरुष हूँ' और यह भी कि जो कुर्सी में है वह मरीजा तो चाहे हो, और चाहे न भी हो, पर वह सुभद्रा है।

शहद से भी भारी ये दो आत्माओं के बीच के सन्नाटे की घड़ियाँ असत्य होती चली गईं। चौथा मिनट होते-होते आखिर, मानो मोह तोड़, अपने साथ एकदम झटपट मचाकर मैंने कहा—चलिए, दवा बन गई है।

उन्होंने भी जैसे खोई सुध पाई। उन्होंने कहा—आप मरीज के इतमीनान का इतना ही ख्याल रखते हैं, डाक्टर साहब ? ठहरिये,

बतलाइये, मेरी आँख ठीक हो जायगी ? मैं अब चालीस की होने आती हूँ ।

मैंने धीमे से कहा, 'हाँ, जरूर हो जायगी ।' फिर हम लोग उठकर बाहर दफ्तर में आ गये । महिला ने वहाँ धीमे-धीमे, मानो विचारपूर्वक, हाथों में दस्ताने पहनने शुरू किये । उसी समय उन्होंने कहा, "आपकी कृपा के लिये, डाक्टर साहब, मैं बहुत कृतज्ञ हूँ ।" यह कहकर मेरी फीस के बीस रुपये निकालकर मेरे सामने मेज पर रख दिये ।

वे दोनों नोट, नये, रंगीन, क्रिस्प, मेरी निगाह के आगे बिछे के बिछे ही रह गये । मालूम हुआ कि इन कागजों का बोझ मेरे हृदय से सँभाला न जायगा । जी में हुआ-सा कि इन कागजों को और अपनी डाक्टरी के आवरण को फाड़ फेंककर बाहें फैलाकर खड़ा हो जाऊँ और कहूँ, 'ओ सुभद्रा ।' लेकिन वह कुछ भी न हुआ । मेरा हाथ यन्त्र के समान धीरे-धीरे बढ़ा, नोटों तक पहुँचा और नोटों को अपनी पकड़ में मरोड़कर उन्हें चुपचाप मेरे जेब में डाल गया । सुभद्रा देखती रही और जब नोट चुप जेब में बन्द हो गये तब मानो उसके मुख का सुख बढ़ा । उसने कहा—डाक्टर साहब, मैं बाल-बच्चेदार स्त्री हूँ । क्या आप इजाजत देंगे कि आपके बाल-बच्चों से मिल लूँ ? मेरे बच्चे सब दूर हैं । मैं यहाँ अकेली हूँ ।

मैंने कहा—आप कह क्या रही हैं ?

"मैं यहाँ बिल्कुल अकेली हूँ डाक्टर साहब, और हाल ही में मेरा पाँच वर्ष का एक बच्चा मर गया है । वह किताब में से ए० बी० सी० डी० सुनाया करता था और खाते वक्त रोटी के ये हरूफ बनाया करता था । यहीं के अस्पताल में वह मरा है । उसके बाप को छुट्टी नहीं मिल सकी और वह नहीं आ सके । और बच्चे बाप के

पास हैं। उनके देखने को मेरा बहुत जी है। पर वह कहाँ हैं, मैं कहाँ हूँ ?....आपके कितने बच्चे है डाक्टर साहब ?"

मैं विमूढ़ होता गया। कुछ कहने के लिये मैंने कहा—आप क्या कह रही हैं ?

उन्होंने कहा—डाक्टर साहब, आप मुझे....आपके कितने बच्चे हैं ?

यह सब कुछ मेरे लिये बहुत होता जा रहा था। मैंने एकदम कहा—मेरे कोई बच्चा नहीं है सुभद्रा।

मैं बह पड़ने को हो गया। पर मानो बह चलने से हठात् इन्कार करते हुये उसने पूछा—शादी नहीं की ?

"की है।"

तब मानो मैंने उसके मुँह का संबोधन सुना—"केदार ! क्या यह मेरी कल्पना थी ?"

और मेरे कंठ तक आया—"सुभद्रा !"

हम अपनी अपनी जगह रहे और मानो एक दूसरे को निगाहों से निगल जाना चाहने लगे।

किन्तु वह सुभद्रा थी। उसने कहा—"आप दुखी हैं ?"

"नहीं, दुखी नहीं हूँ," मैं कह चला, "दुख जानने लायक मैं नहीं हूँ।"

उस समय सुभद्रा जो हो पड़ी, मैं उसे न समझ सका। उसने कहा—"केदार, किन्तु मुझे तो देखो। मैं सुख से किसी तरह भी बच कर दुखी हो सकती हूँ ? हमारा गृहस्थजीवन स्वर्ग है। मैं बच्चों को प्यार करती हूँ, बच्चे मेरे हैं। पति मुझे प्रेम करते हैं और वह मेरे पति हैं। छिः फिर भी तुम दुखी होते हो। सुभद्रा कितने सुख में है, यह नहीं देखते ?"

कहते कहते सुभद्रा की वाणी मानो मर्मवेधिनी होती गई। वह मानो चीख-चीखकर यह सुना रही थी।

तब मुझे मालूम होने लगा कि स्त्री क्या है? कि वह मादा नहीं है, वह तो स्त्री ही है। मैंने मानो उसको सम्बोधन देते हुए कहा—"सुभद्रा!"

उसने कहा—"नहीं, केदार, तुम मेरे सुख को कम नहीं कर सकते। यह देखो ग्लब्स,—बाईस रुपये के मुझे स्वामी ने लेकर दिये थे। मेरी मोटर बाहर खड़ी है। बहुत-सी चीजों की और अपनी मालिक मैं हूँ।....केदार, तुमने शादी कब की? चार वर्ष पहले तक तो तुम ऐसे ही थे!"

मैंने कहा—"सुभद्रा!"

"नहीं केदार, तुम मेरा सुख-स्पर्श नहीं कर सकते। तुम कोई नहीं हो कि मुझ सुखी को लेकर तुम दुखी बनो, जिससे कि मेरा ही सुख मुझे काटे। नहीं, तुम मेरे आनन्द को नहीं छू सकोगे। मैं बहुत प्रसन्न हूँ।"

"सुभद्रा!"

"केदार, तुम्हारे पत्र मुझे नहीं मिले, यही तुम समझो! बताओ, उसमें मूर्खता के सिवा कुछ था? और प्रेम मूर्खता है। प्रेम में किसी ने सुख पाया है? इसलिए मैंने उसी क्षण उन पत्रों को समाप्त किया और उसके बाद सुख की राह की सब अड़चन मिटा दी। विवाह हुआ, कुटुम्ब हुआ....नहीं केदार, तुम ईर्ष्या नहीं कर सकोगे।"

मैंने फिर कहा—'सुभद्रा', ताकि वह रुके और शान्त हो। लेकिन उसने कहा—"केदार, तुमने कब ब्याह किया? त्योरस साल ही तो? मैं सब जानती रही। लेकिन तैंतालीस वर्ष तक तुम कुँवारे

रहे ?....मैं कहती हूँ कि सुभद्रा पर इसकी कोई जिम्मेदारी नहीं है, कोई फिक्र नहीं है....केदार, केदार !....क्या तुम आशा किये ही जाते हो ? किये ही जाओगे ? लेकिन आशा ठगनी है। आशा झूठ है, जैसे कि तलाक झूठ है। तैंतालिसवें वर्ष ब्याह करके भी तुम सुभद्रा को याद रखने की हिम्मत रखते हो ? लेकिन तुम्हारी हिम्मत झूठ है, क्योंकि सुभद्रा सुखी........"

"सुभद्रा !"

"....नहीं, नहीं, मैं विधवा जल्दी होनेवाली नहीं हूँ। मैं कभी विधवा नहीं हो सकती, क्योंकि मैं सती होऊँगी। सतीत्व भारत से मिटा नहीं है, यह मुझसे लोग देखेंगे। तुम आशा करके अपने को ठगो मत, केदार। क्योंकि मैं विधवा एक क्षण को भी नहीं हूँगी और तुम्हारा मुँह भी नहीं देखूँगी। दृष्टि-दोष न होता तो क्या तुम समझते हो मैं याद भी करती कि केदार नाम का कोई डाक्टर है या केदार कोई आदमी भी है ? आँख की वजह से ही मैं तुम्हारे पास आई हूँ, यह खूब समझ लो।"

मैंने जेब से नोट निकाले। धीमे धीमे हाथ बढ़ाकर उसका हाथ पकड़ा और उस हाथ की मुट्ठी बाँध उन नोटों को मींज देकर उसकी कलाई को थामे हुए ही कहा,—"सुभद्रा !"

कुछ देर वह जैसे अवसन्न हो रही। फिर एक साथ झटके से अपना हाथ खींचकर बोली—"आप मुझे यह बताना चाहते हैं कि मैं मरीजा नहीं हूँ और आपके पास इसीलिए नहीं आई हूँ कि आप डाक्टर हैं ? अजी, मुझे दृष्टि-दोष न होता और आप आँख के डाक्टर न होते तो मेरा आपसे क्या वास्ता था ? यह रुपये वापिस करके आप अपने को धोखा देना चाहते हैं कि मेरा आपसे वास्ता है ?"

यह कहकर दोनों नोट मेज पर ही छोड़ दिये। वे कागज गुढ़ी-मुड़ी हुये मेज पर पड़े रहे।

मैंने कहा—"सुभद्रा!"

सुभद्रा खड़ी हो गई। उसने कहा—"अच्छा डाक्टर साहब, मेरी आँखों को आराम हो जायगा न? आपने आठ रोज की दवा दी है। उसके बाद खत भेजकर या आदमी भेजकर भी आपके यहाँ से दवाई मँगाई जा सकती है न? मेरा आना मुश्किल होगा?"

मैं भी खड़ा था। मैंने कहा—"प्यारी सुभ—"

लेकिन सुभद्रा दरवाजे से बाहर चली गई थी।....

× × ×

इसको बीते ज्यादे दिन नहीं हुए हैं और मैं नहीं जानता कि इस घटना को मैं किस प्रकार तह करूँ और अपने सामान में उसे कहाँ रखूँ।